मासिक समाचारपत्र ● पूर्णांक 10 ● वर्ष 2 ● अंक 1 ● मार्च 2012 ● पाँच रुपये ● सोलह पृष्ठ

मज़दूर बिगुल

आतंकवाद बहाना है, जनसंघर्ष ही निशाना है!

राष्ट्रीय आतंकवाद-विरोधी केन्द्र (एनसीटीसी) के रूप में एक और खुफ़िया एजेंसी का गठन

गहराते जन-असन्तोष से निपटने के लिए दमनतंत्र को मज़बूत बनाने में जुटे हैं लुटेरे शासक वर्ग

सम्पादकीय

पिछली 5 फरवरी को केन्द्रीय गृह मंत्रालय ने एक और खुफ़िया एजेंसी राष्ट्रीय आतंकवाद-विरोधी केन्द्र (एनसीटीसी) के गठन की अधिसूचना जारी कर दी। अमेरिका में इसी नाम की एजेंसी की तर्ज़ पर गठित इस एजेंसी का निदेशक गैर-क़ानूनी गतिविधियाँ निरोधक क़ानून (यूपीपीए) नाम के काले क़ानून को लागू करने वाला "निर्दिष्ट अधिकारी" होगा। इस एजेंसी को खुफ़िया जानकारियाँ जुटाने के साथ-साथ तलाशी और गिरफ़्तारी करने के भी अधिकार होंगे और यह तमाम तथाकथित आतंकवाद-विरोधी कार्रवाइयों का नियंत्रण और समन्वय करेगी। इसे राज्यों के पुलिस महकमों सहित किसी भी अधिकारी से जानकारी, कागज़ात और रिपोर्ट तलब करने का अधिकार दिया गया है। इसका प्रशासकीय नियंत्रण इंटेलिजेंस ब्यूरो (आईबी) के पास होगा जो सीधे केन्द्र सरकार के तहत काम करती है और संसद के प्रति भी जवाबदेह नहीं होती।

कई राज्यों की गैर-कांगेसी सरकारें भी इस नयी खुफ़िया एजेंसी के कुछ प्रावधानों को लेकर विरोध जता रही हैं क्योंकि उन्हें डर है कि इसका इस्तेमाल विरोधी पार्टियों के नेताओं के ख़िलाफ़ भी किया जा सकता है। कई राज्य सरकारों और विपक्षी पार्टियों की आपत्तियों के कारण फिलहाल इसे थोड़ा टाल दिया गया है, लेकिन उनकी आशंकाओं को दूर करके इसे जल्दी ही लागू कर दिया जायेगा, यह तय बात है। क्योंकि जिस मक़सद से इसे लाया जा रहा है उस पर शासक वर्ग के सभी धड़ों की आम सहमति है।

एनसीटीसी जिस यूएपीए के तहत काम करेगा वह एक घनघोर जनविरोधी काला क़ानून है। 1967 में बने इस क़ानून में 2009 में संशोधन करके इसे "आतंकवाद" से लड़ने के लिए नये धारदार दाँतों और नाख़ूनों (सख़्त प्रावधानों) से लैस किया गया था। इसके तहत पुलिस किसी को भी महज़ शक के आधार पर गिरफ़्तार कर सकती है और आरोपियों को 180 दिन तक पुलिस हिरासत में रख सकती है। इसके तहत ज़मानत की प्रक्रिया को बहुत अधिक कठिन बना दिया गया है। दुनिया भर में मौजूद क़ानूनी परम्परा को धता बताकर यह क़ानून किसी आरोपी को तबतक गुनाहगार मानता है जबतक कि वह अपनी बेगुनाही ख़ुद ही साबित न कर दे। इसके अलावा इस क़ानून ने जाँच एजेंसियों और पुलिस अधिकारियों के हाथ में ऐसे अधिकार दे दिये हैं जिनके दुरुपयोग की पूरी आशंका है। सबसे बढ़कर, यह बुनियादी नागरिक स्वतंत्रताओं पर हमला करता है क्योंकि यह राज्यसत्ता के किसी भी तरीक़े के विरोध और वैचारिक मतभेदों को भी "अपराध" की श्रेणी में रख देता है। इसके तहत अधिकारियों को मनमाने ढंग से संगठनों पर पाबन्दियाँ लगाने की छूट मिल जाती है। इसमें "आतंकवाद" और "गैरक़ानूनी" की परिभाषा इस ढंग से दी गयी है जिससे यथास्थिति को चुनौती देने वाले किसी भी व्यक्ति या संगठन को इसके दायरे में लाकर प्रताड़ित किया जा सकता है। बेशक, एनसीटीसी की अधिसूचना भारतीय संविधान के तहत राज्यों को दिये गये अधिकारों में कटौती करती है और इसीलिए, तमाम गैर-कांग्रेसी पूँजीवादी पार्टियाँ भी इसका विरोध कर रही हैं, लेकिन ये सभी इस बात पर कुछ नहीं कहतीं कि यूएपीए क़ानून ख़ुद ही अभिव्यक्ति, सभा करने और संगठन बनाने की आज़ादी पर चोट करता है जिसके बिना लोकतंत्र का कोई मतलब ही नहीं रह जाता।

एनसीटीसी को जिस आईबी की कमान में रखा गया है वह किसी भी क़ानून के तहत संसद या अदालत के प्रति जवाबदेह नहीं है। इसका गठन अंग्रेज़ सरकार ने रूस की गतिविधियों पर नज़र रखने के लिए 1887 में एक दफ़्तरी आदेश के ज़रिये किया था और बाद में इसका काम राष्ट्रीय आन्दोलन के ख़िलाफ़ जासूसी करना हो गया था। 1947 के

(पेज 12 पर जारी)

ज़रूर प्रधानमन्त्री जी! बचे-खुचे श्रम-क़ानूनों को भी क्यों न ख़त्म कर दिया जाये क्योंकि अब वे भी मुनाफ़े की हवस में बाधा बन रहे हैं!

प्रधानमन्त्री मनमोहन सिंह ने 13 फ़रवरी को राष्ट्रीय श्रम सम्मेलन को सम्बोधित करते हुए फरमाया कि देश में मौजूद श्रम क़ानूनों को और अधिक लचीला बनाये जाने की ज़रूरत है। इस "भले मानुष" का विचार है कि मौजूदा श्रम क़ानून रोज़गारशुदा मज़दूरों के पक्ष में ज़्यादा हैं और इससे उद्योग जगत को नुक़सान होता है। जब मन्दी के दौर में कम्पनियों को अपने मज़दूरों की छँटनी करनी होती है तो मालिकों को इन क़ानूनों के कारण असुविधा होती है। मौजूदा औद्योगिक विवाद अधिनियम के अनुसार अगर किसी कारख़ाने में 100 से ज़्यादा मज़दूर हैं तो उसे बन्द करने से पहले मालिक को सरकार से अनुमति लेनी पड़ती है, मुआवज़ा देना पड़ता है, कई औपचारिकताएँ निभानी पड़ती हैं। प्रधानमन्त्री महोदय अर्थशास्त्र की अपनी "गहरी" जानकारी के आधार पर यह सुझाव दे रहे हैं कि इस पूर्वशर्त को समाप्त कर दिया जाना चाहिए ताकि पूँजीपति जब चाहे तब मज़दूरों को काम से बाहर कर दे! साथ ही मनमोहन सिंह का मानना है कि ठेका मज़दूर अधिनियम को भी ज़्यादा "लचीला" बनाये जाने की आवश्यकता है! हालाँकि ठेका मज़दूर क़ानून पहले से ही काफ़ी लचीला है, यानी कि पूँजीपति उसे अपने लाभ के मुताबिक़ तोड़-मरोड़ सकें, इसका पूरा इन्तज़ाम उस क़ानून के भीतर ही मौजूद है! लेकिन मनमोहन सिंह को इतना लचीलापन नाकाफ़ी लगता है! वह मानते हैं कि ठेका मज़दूरों को इस क़ानून के मुताबिक़ जितनी सहूलियतें मिलती हैं, उसके कारण उद्योगपति उद्योग लगाने से पहले ही हतोत्साहित हो जाते हैं; इसका नुक़सान प्रधानमन्त्री के मुताबिक़ बेरोज़गार मज़दूरों को होता है! इसलिए रोज़गार बढ़ाने के लिए यह ज़रूरी हो जाता है कि मुनाफ़ा कमाने के रास्ते में जितने भी नियम-क़ानून बाधा बनते हैं उन्हें इतना लचीला बना दिया जाये, कि उनका कोई मतलब ही न रह जाये। अगर ऐसा कर दिया जाये तो फिर पूँजीपति बेलाग-लपेट निवेश करेगा और खूब रोज़गार पैदा होगा! इस नायाब तरक़ीब के बारे में तो जितना कहा जाये कम है!

साफ़ है कि प्रधानमन्त्री मनमोहन सिंह ने मन्दी के दौर में पूँजी के घटते मुनाफ़े की भरपाई करने के लिए मज़दूरों को और अधिक लूटने का इन्तज़ाम करने की बात कही है। राष्ट्रीय श्रम सम्मेलन में उनका यह बेशर्म भाषण इस बात का संकेत है कि आने वाले समय में असंगठित क्षेत्र में काम करने वाले मज़दूरों की लूट को और अधिक आसान और प्रभावी बनाने के लिए बचे-खुचे श्रम क़ानूनों में भी संशोधन किया जायेगा। हर मज़दूर जानता है कि जो क़ानून उनके लिए किताबों में पहले से ही दर्ज़ हैं वे भी आज देश में लागू नहीं होते। ठेका मज़दूरी क़ानून के मुताबिक़ हर ठेका मज़दूर को न्यूनतम मज़दूरी, आठ घण्टे के काम के दिन का अधिकार, ई.एस.आई., पी.एफ़ आदि की सुविधा, साप्ताहिक छुट्टी, डबल रेट से ओवरटाइम का हक़ मिलना चाहिए। लेकिन देश के क़रीब 50 करोड़ असंगठित क्षेत्र में मज़दूरों को कहीं भी यह हक़ हासिल नहीं है। औद्योगिक विवाद क़ानून के मुताबिक़ 100 मज़दूरों वाले कारख़ाने को पूँजीपति तुरन्त बन्द नहीं कर सकता है। इसके लिए उसे सरकारी इजाज़त और मज़दूरों को मुआवज़ा और पूर्वसूचना देने की आवश्यकता होती है। अटल बिहारी वाजपेयी के शासन में

(पेज 4 पर जारी)

गोरखपुर का मज़दूर आन्दोलन: कुछ ज़रूरी सबक, कुछ कठिन चुनौतियाँ 5
मारुति सुज़ुकी के आन्दोलन से उठे सवाल 7
पहले मज़दूर राज, पेरिस कम्यून की चित्र कथा 8-9-10
पूँजीवाद-विरोध पर्याप्त नहीं, हमें पूँजीवाद का विकल्प पेश करना होगा 11
माँगपत्रक शिक्षणमाला : सर्वहारा के सबसे बड़े और सबसे ग़रीब हिस्से की माँगें 13

बजा बिगुल मेहनतकश जाग, चिंगारी से लगेगी आग!

आपस की बात

मालिक की मिठास के आगे ज़हर भी फेल

बात ऐसे मालिकों की है जो बिल्कुल परजीवी (दूसरों की मेहनत पर ज़िंदा रहने वाला) हो चुके हैं। मगर फिर भी उन्हें इस बात का सुकून है कि दुनिया में आज भी इज़्ज़तदार लोगों के लिए जगह है। ऐसे ही एक मालिक से आपको मिलवाते हैं।

इनका नाम सुरजीत है। डोली एण्टरप्राइज़ेज़ के मालिक, पता-खसरा न बी-23/8 व बी-23/9 रेलवे रोड, समयपुर, दिल्ली-42 । इनकी फ़ैक्ट्री में चूरन, हाजमालो आदि बनता है। ये इतने सीधे इन्सान हैं कि उनके आगे गाय की सिधाई भी फेल हो जाए। अगर आपको उदाहरण देना हो तो आप कह सकते हैं कि भाई फलानी फ़ैक्ट्री के मालिक से सीधा इन्सान दुनिया में कोई न होगा। गाड़ी खड़ी करते ही सीधा जाकर चीनी पीसने लगेंगे, ऑयलर से ट्रॉली निकालकर हाजमोला का मसाला चेक करने लगेंगे। बाहर वाला कोई व्यक्ति यह नहीं कह सकता कि यही मालिक हैं। सारे मज़दूर उनसे खुश रहते हैं। और सारे मज़दूरों से ज्यादा काम भी खुद ही करते हैं। हाँ, ये बात अलग है कि रजनीगन्धा पान मसाला 100 ग्राम शीशी 140 रुपए कीमत की दिनभर में चट कर जाते हैं। विल्स क्लासिक का 20 सिगरेट वाला पैकेट दिनभर में लगभग तीन पी जाते हैं। मगर फिर भी बड़ा मृदुभाषी व्यक्ति है। मैंने पूछा भाई साहब यह क्या है। बोले, बेटा यह पिसी चीनी, यह आमचूर पाउडर, यह सिट्रिक एसिड, यह लाल रंग और बेर का पाउडर, ये सब जब एक साथ मिला देंगे तो चूरन बन जाएगा, बेचने लायक। एक बात ध्यान रखना बेटा कि काम आराम से करो, भले ही कम हो मगर चोट न आने पाए। वाह, उस महान आत्मा की दिल की बात सुनकर दिल गदगद हो गया। मगर भाई दिखने में ये जितने सीधे लगते हैं, दिल के उतने ही कुत्ते इंसान हैं। इन्होंने सुनीता वर्मा (नत्थूपुरा की रहने वाली) को सिर्फ़ इसलिए निकाल दिया कि वे कभी-कभार आने में लेट हो जाती हैं। इसी मसले पर एक दिन सुपरवाइज़र से नोक-झोंक हो गयी थी। सुनीता वर्मा गिड़गिड़ाती रही कि मेरे छोटे बच्चे हैं, मत निकालिए। मगर कोई असर नहीं हुआ। यही नहीं, जब कोई काम छोड़कर जाता है तो उसका पैसा मारने में कोई कसर नहीं छोड़ते। इसके लिए कुछ ही उदाहरण पर्याप्त होंगे –

1. गोविन्द ने 11 दिन काम किया और उसके बाद भारी काम होने की वजह से छोड़ दिया। काम पर रखते समय उसे 3700 रुपए महीना पगार देने की बात कही गई थी, लेकिन नौकरी छोड़ने पर 3500 रुपए महीना के अनुसार हिसाब किया गया और एक सण्डे का पैसा भी काट लिया।

2. अशोक कम पैसे मिलने के कारण काम छोड़ गया था। 6 जनवरी को काम पर लगा था और 31 जनवरी को छोड़ा, जिसमें पांच इतवार और 26 जनवरी की छुट्टी का पैसा काटकर उसका हिसाब किया गया।

3. आनन्द 1 दिसम्बर 2011 से काम पर लगा लेकिन भारी व गन्दा काम होने की वजह से 28 जनवरी को छोड़ दिया। चार इतवार और 26 जनवरी की छुट्टी का पैसा काटकर उनका हिसाब किया गया।

4. राजीव 7 जनवरी को (3800 रु महीने के हिसाब से) काम पर लगा, लेकिन काम भारी होने की वजह से 12 फरवरी को तनख्वाह लेकर काम छोड़ दिया। दोबारा हिसाब लेने गया तो बहुत डांट सुनाई और पिछले महीने की तनख्वाह (3500 रुपए के हिसाब से) 6 सण्डे और 26 जनवरी की छुट्टी का पैसा काटकर हिसाब करने का आश्वास दिया। अभी राजीव ने हिसाब नहीं लिया है, कहता है कि भाई ने काम पर लगवाया था। जब गांव से लौट आएगा तभी हिसाब करेंगे।

यह हालत हर फ़ैक्ट्री की है। मेरी उम्र ज्यादा तो नहीं है, लेकिन पिछले 4 सालों में करीब 15 फ़ैक्ट्री में काम का अनुभव है। हर फ़ैक्ट्री का मालिक बड़ा मृदुभाषी मीठा दिखता है, मगर इनकी मिठास के आगे "विष फेल" है।

– आनन्द
बादली, दिल्ली

'मज़दूर बिगुल' के पाठकों से

मित्रो,

बिगुल टीम की कुछ अप्रत्याशित व्यस्तताओं और कुछ अन्य अपरिहार्य कारणों से 'मज़दूर बिगुल' का यह अंक पाँच महीने के अन्तराल के बाद प्रकाशित हो रहा है। हमें मालूम है कि पाठकों को अख़बार का बेसब्री से इन्तज़ार रहता है और हमें लगातार आपकी तरफ़ से तकाज़े मिलते रहे। आपको हुई परेशानी के लिए हम क्षमाप्रार्थी हैं और संकल्प व्यक्त करते हैं कि आगे से 'मज़दूर बिगुल' नियमित आपको मिलता रहेगा।

– सम्पादक

मज़दूर बिगुल की नयी वेबसाइट आप यहाँ देख सकते हैं:

www.mazdoorbigul.org

इस वेबसाइट पर दिसम्बर 2007 से अब तक बिगुल के सभी अंक क्रमवार उससे पहले के कुछ अंकों की सामग्री तथा राहुल फ़ाउण्डेशन से प्रकाशित सभी बिगुल पुस्तिकायँ उपलब्ध हैं। हम बिगुल के प्रवेशांक से लेकर अब तक के सभी अंक वेबसाइट पर उपलब्ध कराने के लिए काम कर रहे हैं।

मज़दूर बिगुल का स्वरूप, उद्देश्य और ज़िम्मेदारियाँ

1. 'मज़दूर बिगुल' व्यापक मेहनतकश आबादी के बीच क्रान्तिकारी राजनीतिक शिक्षक और प्रचारक का काम करेगा। यह मज़दूरों के बीच क्रान्तिकारी वैज्ञानिक विचारधारा का प्रचार करेगा और सच्ची सर्वहारा संस्कृति का प्रचार करेगा। यह दुनिया की क्रान्तियों के इतिहास और शिक्षाओं से, अपने देश के वर्ग संघर्षों और मज़दूर आन्दोलन के इतिहास और सबक़ से मज़दूर वर्ग को परिचित करायेगा तथा तमाम पूँजीवादी अफ़वाहों-कुप्रचारों का भण्डाफोड़ करेगा।

2. 'मज़दूर बिगुल' देश और दुनिया की राजनीतिक घटनाओं और आर्थिक स्थितियों के सही विश्लेषण से मज़दूर वर्ग को शिक्षित करने का काम करेगा।

3. 'मज़दूर बिगुल' भारतीय क्रान्ति के स्वरूप, रास्ते और समस्याओं के बारे में क्रान्तिकारी कम्युनिस्टों के बीच जारी बहसों को नियमित रूप से छापेगा और स्वयं ऐसी बहसें लगातार चलायेगा ताकि मज़दूरों की राजनीतिक शिक्षा हो तथा वे सही लाइन की सोच-समझ से लैस होकर क्रान्तिकारी पार्टी के बनने की प्रक्रिया में शामिल हो सकें और व्यवहार में सही लाइन के सत्यापन का आधार तैयार हो।

4. 'मज़दूर बिगुल' मज़दूर वर्ग के बीच लगातार राजनीतिक प्रचार और शिक्षा की कार्रवाई चलाते हुए सर्वहारा क्रान्ति के ऐतिहासिक मिशन से उसे परिचित करायेगा, उसे आर्थिक संघर्षों के साथ ही राजनीतिक अधिकारों के लिए भी लड़ना सिखायेगा, दुअन्नी- चवन्नीवादी भूजाछोर "कम्युनिस्टों" और पूँजीवादी पार्टियों के दुमछल्ले या व्यक्तिवादी-अराजकतावादी ट्रेडयूनियनबाज़ों से आगाह करते हुए उसे हर तरह के अर्थवाद और सुधारवाद से लड़ना सिखायेगा तथा उसे सच्ची क्रान्तिकारी चेतना से लैस करेगा। यह सर्वहारा की क़तारों से क्रान्तिकारी भरती के काम में सहयोगी बनेगा।

5. 'मज़दूर बिगुल' मज़दूर वर्ग के क्रान्तिकारी शिक्षक, प्रचारक और आह्वानकर्ता के अतिरिक्त क्रान्तिकारी संगठनकर्ता और आन्दोलनकर्ता की भी भूमिका निभायेगा।

क्या आपने ये बिगुल पुस्तिकाएँ पढ़ी हैं?

चोर, भ्रष्ट और विलासी नेताशाही
भारतीय पूँजीवादी जनतन्त्र की एक नंगी और गन्दी तस्वीर
रु. 3.00

बोलते आँकड़े, चीख़ती सच्चाइयाँ
नवउदारवादी अर्थनीति के 18 वर्ष – भारत की तरक्की के दावों के ढोल की पोल – समृद्धि के तलघर में नर्क का अँधेरा
रु. 3.00

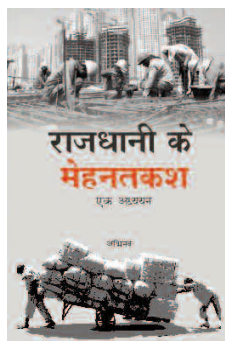

राजधानी के मेहनतकश : एक अध्ययन
– अभिनव
रु. 15.00

फ़ासीवाद क्या है और इससे कैसे लड़ें?
– अभिनव
रु. 15.00

नेपाली क्रान्ति : इतिहास, वर्तमान परिस्थिति और आगे के रास्ते से जुड़ी कुछ बातें, कुछ विचार
– आलोक रंजन
रु. 55.00

मज़दूर बिगुल 'जनचेतना' की सभी शाखाओं पर उपलब्ध है :

- डी-68, निरालानगर, लखनऊ-226020 फोन : 0522-2786782
- जनचेतना स्टाल, काफ़ी हाउस बिल्डिंग, हज़रतगंज, लखनऊ (शाम 5 से 8 बजे)
- जाफ़रा बाज़ार, गोरखपुर-273001
- जनचेतना, दिल्ली – फ़ोन : 09910462009
- जनचेतना, लुधियाना – फोन : 09815587807

"बुर्जुआ अख़बार पूँजी की विशाल राशियों के दम पर चलते हैं। मज़दूरों के अख़बार ख़ुद मज़दूरों द्वारा इकट्ठा किये गये पैसे से चलते हैं।" – लेनिन

'मज़दूर बिगुल' मज़दूरों का अपना अख़बार है।
यह आपकी नियमित आर्थिक मदद के बिना नहीं चल सकता।
बिगुल के लिए सहयोग भेजिये/जुटाइये।
सहयोग कूपन मँगाने के लिए मज़दूर बिगुल कार्यालय को लिखिये।

मज़दूर साथियो, 'आपस की बात' आपका पन्ना है। इसमें छापने के लिए अपने कारख़ाने, काम, बस्ती की समस्याओं, हालत के बारे में, अपनी सोच के बारे में या 'बिगुल' के बारे में लिखकर हमें भेजिये।

मज़दूर बिगुल

सम्पादकीय कार्यालय	: 69 ए-1, बाबा का पुरवा, पेपरमिल रोड, निशातगंज, लखनऊ-226006 फ़ोन : 0522-2335237
दिल्ली सम्पर्क	: बी-100, मुकुन्द विहार, करावलनगर, दिल्ली-94, फ़ोन: 011-64623928
ईमेल	: bigul@rediffmail.com
मूल्य	: एक प्रति – रु. 5/- वार्षिक – रु. 70/- (डाक ख़र्च सहित)

करावलनगर में इलाक़ाई मज़दूर यूनियन की पहली सफल हड़ताल

बिगुल संवाददाता

दिल्ली के करावलनगर इलाक़े में पेपर प्लेट मज़दूरों ने इलाक़ाई यूनियन 'करावलनगर मज़दूर यूनियन' के बैनर तले 11 दिन की हड़ताल में जीत हासिल की। इन पेपर प्लेट फ़ैक्टरियों में पीस रेट पर कागज़ की अलग-अलग क़िस्म की प्लेटें बनती हैं। 5 सितम्बर से 16 सितम्बर 2011 तक चली इस हड़ताल की ख़ासियत यह थी कि पेपर प्लेट बनाने वाली जिन वर्कशापों में हड़ताल हुई उसमें कुल मिलाकर मात्र सौ-सवा सौ मज़दूर काम करते थे, लेकिन अन्य पेशों में काम करने वाले तमाम मज़दूरों के एकजुट होकर संघर्ष करने से 11 दिनों बाद सभी कारख़ाना मालिकों को घुटने टेकने पड़े और सभी माँगों को मानना पड़ा।

पिछले वर्ष ही 'करावलनगर मज़दूर यूनियन' के रूप में इस क्षेत्र के मज़दूरों की इलाक़ाई यूनियन का गठन हुआ था। इसके कुछ समय बाद ही पेपर प्लेट कारख़ानों में काम करने वाले मज़दूरों ने यूनियन से सम्पर्क स्थापित कर अपने पेशे के भयंकर हालात के बारे में यूनियन को बताया। इन मज़दूरों ने यूनियन की सदस्यता ली और फिर पेपर प्लेट उद्योग के अन्य मज़दूरों को यूनियन से जोड़ा। इसके बाद, पेपर प्लेट कारख़ानों के हालात पर पर्चे निकालकर सभी मज़दूरों में बाँटे गये। अगस्त के आख़िरी सप्ताह से हड़ताल की तैयारी शुरू की गयी और 5 सितम्बर से हड़ताल शुरू हो गयी।

यूनियन ने एक-एक करके सातों फ़ैक्टरियों पर जाकर काम बन्द कराया। अगले सात-आठ दिनों तक कारख़ाना मालिक पुलिस और इलाक़े के दबंगों की मदद से हड़ताल को तोड़ने की तमाम कोशिशें करते रहे, लेकिन असफल रहे। हड़ताल लागू करवाने के दौरान कई बार झड़पें भी हुईं लेकिन काम बन्दी को सौ प्रतिशत तक पहुँचाने में मज़दूरों के पिकेटिंग दस्ते सफल रहे। आठवें दिन आते-आते कई कारख़ानों के मालिकों ने हथियार डाल दिये और वहाँ हड़ताल समाप्त हो गयी और काम शुरू हो गया। 11 दिन पूरे होते-होते सभी मालिक समझौते के लिए तैयार हो गये और मज़दूरों की सभी माँगें मान ली गयीं। लेकिन हड़ताल के दौरान हुई मारपीट को मुद्दा बनाकर एक मालिक ने यूनियन के कार्यकर्ताओं और मज़दूरों पर एक फ़र्ज़ी मुकदमा दायर कर दिया। इसका तात्कालिक कारण यह था कि हड़ताल के समापन के बाद 'करावलनगर मज़दूर यूनियन' के नेतृत्व में क़रीब 500 मज़दूरों ने 'मज़दूर शक्ति रैली' निकाली और अपनी विजय का जश्न मनाया। अगले ही दिन एक मालिक की शह पर पुलिस ने एक मज़दूर को मारपीट और छीना-झपटी के झूठे आरोप में गिरफ़्तार कर लिया। उन्हें छुड़ाने गये यूनियन के दो कार्यकर्ताओं सनी और प्रेमप्रकाश को भी पुलिस ने गिरफ़्तार कर लिया। इसके बाद मज़दूरों ने अपने गिरफ़्तार साथियों की जमानत करायी लेकिन फ़र्ज़ी मुकदमे की कार्रवाई अभी जारी है।

इस हड़ताल की सबसे ख़ास बात यह थी कि हालाँकि यह बड़े पैमाने पर नहीं थी, लेकिन इसमें जिस पेशे और कारख़ानों के मज़दूरों ने हड़ताल की थी, उससे ज़्यादा संख्या में अन्य पेशों के मज़दूरों ने भागीदारी की। अगर अन्य पेशों के मज़दूर भागीदारी न करते तो अकेले पेपर प्लेट मज़दूरों की लड़ाई का सफल होना मुश्किल हो सकता था। इलाक़ाई मज़दूर यूनियन बनने के बाद यह पहला प्रयोग था जिसमें मज़दूरों की इलाक़ाई एकजुटता के आधार पर एक हड़ताल जीती गयी। आज जब पूरे देश में ही बड़े कारख़ानों को छोटे कारख़ानों में तोड़ा जा रहा है, मज़दूरों को काम करने की जगह पर बिखराया जा रहा है, तो कारख़ाना-आधारित संघर्षों का सफल हो पाना मुश्किल होता जा रहा है। ऐसे में, 'बिगुल' पहले भी मज़दूरों की इलाक़ाई और पेशागत एकता के बारे में बार-बार लिखता रहा है। यह ऐसी ही एक हड़ताल थी जिसमें एक इलाक़े के मज़दूरों ने पेशे और कारख़ाने के भेद भुलाकर एक पेशे के कारख़ाना मालिकों के ख़िलाफ़ एकजुटता क़ायम की और हड़ताल को सफल बनाया।

डीएमकेयू ने क़ानूनी संघर्ष में एक क़दम आगे बढ़ाया।

पिछले दिनों दिल्ली मेट्रो कामगार यूनियन ने आम सभा बुलाकर यूनियन पदाधिकारियों एवं कार्यकारिणी का चुनाव किया। सभा में चुने गये पदाधिकारियों ने यूनियन के पंजीकरण की कार्रवाई को आगे बढ़ाने की एक ठोस योजना बनायी। दिल्ली मेट्रो रेल प्रशासन और उसके तहत काम करने वाली ठेका कम्पनियों के ख़िलाफ़ 'दिल्ली मेट्रो कामगार यूनियन' लम्बे समय से श्रम-कानूनों को लागू कराने का संघर्ष लड़ रही है। पिछले तीन वर्ष में यह संघर्ष काफ़ी उतार-चढ़ाव से गुज़रा हैं।

जैसा कि आप जानते ही होगें कि दिल्ली मेट्रो रेल में क़रीब 70 फ़ीसदी आबादी ठेका मज़दूरों की है जिसमें मुख्यत: सफ़ाईकर्मी, गार्ड तथा टिकट व मेण्टेनेंस ऑपरेटर हैं। इस मजदूर आबादी का शोषण चमकते मेट्रो स्टेशनों के पीछे छिपा रहता है; ठेका मज़दूरों को न तो न्यूनतम वेतन, न ही ईएसआई कार्ड; और साप्ताहिक अवकाश जैसी बुनियादी सुविधायें ही मिलती हैं जिसके ख़िलाफ़ 2008 में सफ़ाईकर्मियों ने एकजुट होकर 'दिल्ली मेट्रो कामगार यूनियन' का गठन कर अपने हक़-अधिकारों के संघर्ष की शुरुआत की थी। यूनियन ने उस बीच 'मेट्रो भवन' के समक्ष कई प्रदर्शन भी किये। इन प्रदर्शन से बौखलाये डीएमआरसी और सरकारी प्रशासन का तानाशाही पूर्ण रवैया भी खुलकर सामने आया जिसके तहत 5 मई के प्रदर्शन में क़ानूनी जायज़ माँगों का ज्ञापन देने गये 46 मज़दूरों को गिरफ़्तार कर तिहाड़ जेल में डाल दिया गया। लेकिन इस दमनपूर्ण कार्रवाई के बावजूद मज़दूरों ने संघर्ष जारी रखा।

विगत 10 जुलाई 2010 को जन्तर मन्तर पर यूनियन के बैनर तले सैकड़ों मज़दूरों के प्रदर्शन ने डीएमआरसी तथा टॉम ऑपरेटर ठेका कम्पनी को झुका दिया। यूनियन ने टॉम ऑपरेटर कम्पनी ट्रिग तथा बेदी एण्ड बेदी में न्यूनतम मज़दूरी लागू कराने में सफलता पायी। अब तक टॉम ऑपरेटरों और सिक्योरिटी गार्डों के लिए न्यूनतम मज़दूरी लागू करवाने में यूनियन सफल रही है। ज़ाहिरा तौर पर यूनियन को अभी आंशिक जीत ही मिली है। लेकिन ये जीत ऐसे दौर में मिली है जब असंगठित क्षेत्रों के मजदूर के हक़-अधिकार लगातार छीने जा रहे हैं। सीटू, इंटक और एटक जैसी लाखों की सदस्यता वाली केन्द्रीय ट्रेड यूनियन फेडरेशनें सफ़ेद कॉलर वाले सार्वजनिक क्षेत्र के कर्मचारियों के आर्थिक संघर्ष में ही अपनी गत्ते की तलवार भाँजती हैं। इसीलिए 'दिल्ली मेट्रो कामगार यूनियन' के तहत मेट्रो रेल कारपोरेशन में जारी आन्दोलन की शुरुआत महत्वपूर्ण है। यह मुहिम दिल्ली मेट्रो रेल की बिखरी हुई कार्यशक्ति को एकजुट करने का प्रयास कर रही है। इस कड़ी में 15 फ़रवरी को 'दिल्ली मेट्रो कामगार यूनियन' ने यूनियन के पंजीकरण के लिए श्रम विभाग में आवेदन दाखिल कर दिया है। निश्चित ही कानूनी पंजीकरण यूनियन के संघर्ष में एक बढ़ा हुआ क़दम होगा लेकिन मज़दूरों को क़ानूनी संघर्ष की सीमाओं को समझना होगा और अपनी असली ताक़त पर भरोसा करना होगा। यानी उन्हें व्यापक मज़दूर एकता क़ायम करनी होगी क्योंकि आज के दौर में क़ानूनी संघर्ष में भी आप तभी कामयाबी पा सकते हैं जब आपके साथ संगठित मज़दूर आबादी हो।

भ्रष्टतन्त्र का एक और कीर्तिमान

देश के ग़रीबों के स्वास्थ्य के साथ खिलवाड़ बेरोकटोक जारी है। ग़रीब जनता काम और रिहायश की बदतर परिस्थितियों, पौष्टिक भोजन और आराम की कमी के कारण स्वास्थ्य सम्बन्धी गम्भीर समस्याओं का सामना कर रही है। इलाज़ की उचित सुविधाओं तक पहुँच न होने के कारण उनकी स्थिति और गम्भीर हो गयी है। मुनाफ़ाख़ोर पूँजीवादी व्यवस्था से और कोई उम्मीद भी नहीं की सकती। जो व्यवस्था खुद ही असाध्य रोगों से ग्रस्त हो वह जनता के रोग कैसे दूर सकती है? लेकिन पूँजीवादी सरकारें जनता में व्यवस्था के प्रति झूठी उम्मीदें पैदा करने की कोशिशें करती रहती हैं। एक ओर उदारीकरण और निजीकरण के दौर में स्वास्थ्य और चिकित्सा को भी बाज़ार में बिकाऊ माल बना दिया गया है, सरकारी अस्पतालों की हालत दिन-ब-दिन ख़राब होती जा रही है। दूसरी ओर, जनता के गुस्से पर पानी के छींटे डालने के लिए कुछ कल्याणकारी योजनाएँ चला दी जाती हैं। 2005 में देश के अठारह राज्यों में शुरू हुआ राष्ट्रीय ग्रामीण स्वास्थ्य मिशन (एन.आर.एच.एम) ऐसी ही "महत्वाकांक्षी" योजना थी। लेकिन अफ़सोस, उसकी यह महत्वाकांक्षा इस व्यवस्था के ही एक असाध्य रोग - भ्रष्टाचार - की बलि चढ़ गई।

दावा किया किया गया कि केन्द्र सरकार के स्वास्थ्य मन्त्रालय द्वारा संचालित एन.आरएच.एम. से ग्रामीण भारत में स्वास्थ्य सुविधाओं की पहुँच को बेहतर बनाया जायेगा। इसके लिए "आशा", "जननी सुरक्षा योजना", बच्चों के टीकाकरण, ग़रीबों को दवाओं की आपूर्ति, स्वास्थ्य के प्रति लोगों को जागरूक बनाने जैसी कई योजनाएँ लायी गयीं। साफ़-सफ़ाई और नाली-पानी की व्यवस्था को बेहतर बनाने के बड़े-बड़े दावे किये गये। कई बड़े पूँजीवादी अर्थशास्त्रियों ने इसे अब तक की सबसे महत्वाकांक्षी ग्रामीण स्वास्थ्य पहल कहा। मुख्यत: अठारह राज्यों - उत्तर प्रदेश, उत्तराखण्ड, बिहार, उड़ीसा, राजस्थान, मध्य प्रदेश, छत्तीसगढ़, हिमाचल प्रदेश, झारखण्ड, जम्मू-कश्मीर, अरुणाचल प्रदेश, असम, नगालैण्ड, मणिपुर, मिजोरम, मेघालय, सिक्किम और त्रिपुरा में शुरू की गयी इस योजना के खर्च का 85 प्रतिशत केन्द्र और 15 प्रतिशत राज्य सरकार उठाते हैं।

राष्ट्रीय ग्रामीण स्वास्थ्य मिशन घोटाला

सबसे बड़ा कार्यक्रम उत्तर प्रदेश में लिया गया। बाक़ी राज्यों में भी एन.आर.एच.एम. भ्रष्टाचार से अछूता नहीं है, लेकिन उत्तर प्रदेश में तो यह मिशन महाघोटाले का शिकार हो चुका है। 2005 से 2011 के बीच यहाँ के लिए 8,657 करोड़ रुपये जारी हुए। उत्तर प्रदेश के दो मुख्य स्वास्थ्य अधिकारियों यानि चीफ मेडिकल अफ़सरों की लखनऊ में हुई हत्याओं के बाद इस धन में हुआ घोटाला रोशनी में आया। घोटाले की असल तस्वीर तो अभी सामने आनी बाकी है लेकिन प्राथमिक जाँच-पड़ताल में यह बात सामने आयी है कि जारी हुए कुल 8,657 करोड़ में से 5,700 करोड़ रुपये का सीधा-सीधा घोटाला हुआ है। यानि जो पैसा ग़रीबों के दवा-इलाज़, रोगों की रोकथाम के लिए जारी हुआ था वह राजनेताओं, सरकारी अधिकारियों, डॉक्टरों, ठेकेदारों और कम्पनियों की जेब में चला गया। इन्होंने जनता का पैसा फ़र्ज़ी बिल बनाकर आपस में बाँट लिया। एन.आर.एच.एम. के तहत मोबाइल मेडिकल गाड़ियों, अस्पतालों के निर्माण, पेयजल, कचरे की सफ़ाई और दूसरे कामों का ठेका देने में भारी गड़बड़ियाँ की गयीं। कई निर्माण एजेंसियों के साथ कोई औपचारिक करार तक नहीं किया गया लेकिन सैकड़ों करोड़ रुपये का पहले ही भुगतान कर दिया गया। स्वास्थ्य और इलाज के बारे में जागरूकता के लिए प्रस्तुत किए गए कार्यक्रमों के तहत प्रचार-प्रसार तथा स्वास्थ्य सुविधाएँ पहुँचाने में वाहनों का फ़र्ज़ी उपयोग दर्शाकर फ़र्ज़ी भुगतान, वास्तविक कार्यबल से अधिक कार्यबल दर्शाकर दवाओं तथा अन्य स्वास्थ्य सम्बन्धी उपकरणों के फ़र्ज़ी भुगतान, चिकित्सालयों में जेनेरेटर के डीज़ल के फ़र्ज़ी भुगतान, जननी सुरक्षा योजना के अन्तर्गत फ़र्ज़ी भुगतान आदि से हजारों करोड़ रुपए राजनेताओं, सरकारी अधिकारियों, डॉक्टरों, ठेकेदारों आदि की जेब में चला गया। अगर यह पैसा वास्तव में सही ढंग से ख़र्च किया जाता तो जनता को कुछ फ़ायदा तो हासिल होता ही। लेकिन जब एक तरफ़ लोग मस्तिष्क ज्वर, टीबी, मलेरिया, डेंगू, जैसी बीमारियों से मर रहे थे तो दूसरी तरफ ये भ्रष्टाचारी अय्याशी के लिए जनता का पैसा हड़प कर रहे थे।

उत्तर प्रदेश के चुनावों में सभी पार्टियों ने इस मुद्दे को भुनाया है। सभी विपक्षी पार्टियाँ इस घोटाले और हत्याओं के पीछे बहुजन समाज पार्टी को ज़िम्मेवार कह रही हैं, वहीं बसपा सारे आरोप कांग्रेस और सपा पर थोप रही है। लेकिन कहने की ज़रूरत नहीं है कि इस हमाम में ये सभी नंगे हैं। यह घोटाला किसी एक पूँजीवादी पार्टी के नेताओं का अपराध नहीं है बल्कि अब भण्डाफोड़ हो जाने के बाद एक दूसरे पर गालियाँ बरसा रही इन सभी पार्टियाँ के नेता तथा इनसे जुड़े ठेकेदार गिरोह इस ख़ूनी घोटाले से किसी न किसी रूप में जुड़े रहे हैं।

घोटाले की जाँच सीबीआई कर रही है। ऐसी तमाम जाँचों की तरह इसकी रिपोर्ट भी फ़ाइलों में दब जायेगी और कुछ छुटभैये जेल चले जायेंगे। असली अपराधी आज़ाद घूमते रहेंगे। जब से यह जाँच शुरू हुई है तब से अब तक इस घोटाले से सम्बन्धित सात और हत्याएँ हो चुकी हैं। यह घोटाला और इससे जुड़ी हत्याओं का घटनाक्रम मौजूदा व्यवस्था में ग़रीब जनता के स्वास्थ्य से खिलवाड़, भ्रष्टाचार और अपराधीकरण का एक जीता-जागता उदाहरण है।

● **लखविन्दर**

ज़रूर प्रधानमन्त्री जी! बचे-खुचे श्रम-क़ानूनों को भी क्यों न ख़त्म कर दिया जाये क्योंकि अब वे भी मुनाफ़े की हवस में बाधा बन रहे हैं!

(पेज 1 से आगे)

इस सीमा को बढ़ाने का प्रस्ताव रखा गया था। लेकिन उसे लागू करने के दौर में ही चुनाव आ गये थे, जिसके कारण भाजपा-नीत राजग सरकार ने इस प्रस्ताव को ठण्डे बस्ते में डाल दिया था। लेकिन अब पूँजीपति वर्ग के टट्टू और ये तीन तिलंगे मनमोहन-मोण्टेक-प्रणब इसे लागू करने का मूड बना चुके हैं। ज़ाहिर है कि जो मज़दूर रोज़गारशुदा हैं उनके सिर पर जो अनिश्चितता और कभी भी सड़क पर आ जाने का ख़तरा मँडराता रहता है, वह और भी ज़्यादा हो जायेगा।

मनमोहन सिंह ने हमेशा से पूँजीपति वर्ग की वफ़ादारी के साथ सेवा की है। 1991 के जब वह नरसिंह राव की सरकार में वित्त मन्त्री थे, तभी उन्होंने अपनी क्षमता का परिचय देते हुए नयी आर्थिक नीतियों की शुरुआत की थी। इन नीतियों का मक़सद था कि देश की क़ुदरत और मेहनत दोनों को पूँजी के लिए खुला चरागाह बना देना। तभी से श्रम क़ानूनों को लचीला बनाने, अर्थव्यवस्था को खोलने, पब्लिक सेक्टर को पूँजीपतियों के हाथों औने-पौने दामों पर बेचने, आदि का काम शुरू हो गया था। भाजपा के नेतृत्व में राजग की सरकार ने इसी प्रक्रिया को और अधिक ज़ोर-शोर से आगे बढ़ाया और उसी समय विनिवेश मन्त्रालय बनाया गया, जिसका मक़सद था देश के मेहनतकशों और आम जनता की बचत के बूते खड़े किये गये पब्लिक सेक्टर को नंगई के साथ पूँजीपतियों के हवाले करना। इसी समय विशेष आर्थिक क्षेत्रों को बनाने की शुरुआत की गयी जिसमें मौजूदा श्रम क़ानून भी लागू नहीं होते और मज़दूरों को खुले तौर पर गुलामों की तरह खटाने के लिए पूँजीपति आज़ाद होते हैं। 2004 में कांग्रेस के नेतृत्व में संयुक्त प्रगतिशील गठबन्धन की सरकार बनने के बाद मज़दूरों के नाम पर नरेगा आदि जैसी कुछ योजनाएँ लागू की गयीं, जो गाँव की निर्धनतम आबादी को न तो आबाद होने देती है, और न ही पूरी तरह से बरबाद। इस योजना का काम है गाँव के ग़रीब मज़दूरों को भुखमरी की हालत में ज़िन्दा रखना और शहर जाने से रोकना ताकि शहर में बेरोज़गार मज़दूरों की भीड़ तेज़ी से न बढ़े और धनपशुओं के महल सुरक्षित रहें! पिछले 6 वर्ष में यह बात साबित हो चुकी है कि नरेगा से ग्रामीण सर्वहारा वर्ग को कुछ नहीं मिला है, लेकिन नौकरशाहों, अफसरों, बी.डी.ओ., तहसीलदारों और सरपंचों की जेबें गर्म हो रही हैं। इससे पूँजीवादी सत्ता को गाँवों में इन दबंगों, धनाढ्यों, और पूँजीवादी राजनीति करने वाले पंचों के रूप में अपने सामाजिक आधार को मज़बूत करने और गाँव के मज़दूरों में पूँजीवादी सत्ता के "कल्याणकारी" होने का भ्रम पैदा करने में मदद मिली है। लेकिन ऐसा कोई भ्रम हमेशा ज़िन्दा नहीं रहता। संयुक्त प्रगतिशील गठबन्धन का दूसरा कार्यकाल 2009 में शुरू हुआ और इस बार सरकार ने खुलकर पूँजीपतियों के हितों को साधने का काम शुरू किया। सरकार पूँजीपतियों की मैनेजिंग कमेटी के तौर पर एकदम नंगी होकर आज हमारे सामने है। चाहे देश की अकूत प्राकृतिक सम्पदा को विशेष आर्थिक क्षेत्र और मेमोरैण्डम ऑफ अण्डरस्टैण्डिंग के जरिये कारपोरेट पूँजीपति घरानों के हवाले करने का मामला हो या एक-एक करके मज़दूरों से उनके रहे-सहे अधिकारों को छीनने का मामला; मनमोहन-मोण्टेक-प्रणब की तिकड़ी ने सारे कीर्तिमान ध्वस्त कर डाले हैं। मन्दी के दौर में पूँजीपति वर्ग के गिरते मुनाफ़े की भरपाई करने के लिए किसी भी पार्टी की सरकार यही करती। भाजपा तो यह काम और तेज़ी और तानाशाहाना रवैये के साथ करती। मज़दूरों के दमन के मामले में भाजपा और कांग्रेस के बीच कौन ज़्यादा घटिया और घिनौना है, इसका फ़ैसला करना मुश्किल हो गया है। राज्यों में माकपा और भाकपा जैसे संसदीय वामपन्थियों ने भी साबित कर दिया है कि पूँजी के तलवे चाटने के लिए अगर कहीं मज़दूरों और ग़रीब किसानों का कत्ले-आम करना पड़े तो वे भी पीछे नहीं रहेंगे।

ऐसे में, प्रधानमन्त्री का ताज़ा बयान कोई आश्चर्य नहीं पैदा करता। वह यही दिखला रहा है कि जब पूरी की पूरी पूँजीवादी व्यवस्था मन्दी के भँवर में फँसती है तो पूँजीपति वर्ग की मैनेजिंग कमेटी का काम करने वाली सरकार रक्षा के लिए आती है और इस मन्दी का पूरा बोझ मज़दूर वर्ग पर डालने के लिए हर ज़रूरी कदम उठाती है। यही इस समय मनमोहन सिंह कर रहे हैं। इस समय पूँजीपति वर्ग की नुमाइन्दगी करने वाली किसी भी पार्टी की सरकार यही करती। ऐसे में, मज़दूरों को यह सोचना होगा कि इस क़िस्म के मज़दूर-विरोधी कदमों पर वह चुप बैठेंगे या जुझारू संघर्ष छेड़ देने के लिए संगठित होकर सड़कों पर उतरेंगे; यह उन्हें तय करना है कि जब एक-एक करके सारे हक़-हुकूक उनसे छीने जा रहे हैं, जो हमारे गौरवशाली पूर्वजों ने लड़कर पूँजीवादी व्यवस्था से हासिल किये थे, तो वे तमाशबीन बने रहेंगे या इस लुटेरे निज़ाम की ईंट से ईंट बजाने के लिए गोलबन्द होंगे और आवाज़ उठायेंगे। फ़ैसला हमारे हाथ में है, यह किस्मत का लेखा नहीं है!

● शिशिर

बरगदवा, गोरखपुर का मज़दूर आन्दोलनः कुछ ज़रूरी सबक़, कुछ कठिन चुनौतियाँ

(पेज 5 से आगे)

मुक़ाबले ज़्यादा खुल्लम-खुल्ला हो गया है। यह भी सही है कि आज आर्थिक संघर्षों में भागीदारी के दौरान संघर्षरत मज़दूर शासन-प्रशासन-न्यायपालिका के चरित्र को पहले के मक़ाबले ज्यादा अच्छी तरह देख-समझ पा रहे हैं। इससे उनकी राजनीतिक चेतना के विकास में मदद भी मिल रही है। लेकिन सवाल यह है कि यह राजनीतिक चेतना किस प्रकार की है? ट्रेड यूनियन राजनीति की चेतना या क्रान्तिकारी सर्वहारा राजनीति की चेतना। आर्थिक संघर्ष को चाहे जितने जुझारू ढंग से लड़ा जाये या चाहे जिस तरीके से लड़ा जाये यह मज़दूरों के भीतर अधिक से अधिक ट्रेड यूनियन राजनीति की चेतना ही विकसित कर सकता है। हमें यह समझना होगा कि कि संघर्ष का कोई विशेष रूप या तरीका मज़दूरों के आर्थिक संघर्ष को राजनीतिक संघर्ष में नहीं बदल सकता और इससे संघर्षरत मज़दूरों के भीतर क्रान्तिकारी सर्वहारा राजनीति की चेतना नहीं विकसित हो सकती। 'अर्थवादियों' के खिलाफ़ बहस में लेनिन ने अपनी रचना 'क्या करें?' में मज़दूरों की राजनीतिक वर्ग चेतना के बारे में कहा था: "मज़दूरों में राजनीतिक वर्ग चेतना केवल बाहर से ही लायी जा सकती है, यानी केवल आर्थिक संघर्ष के बाहर से, मज़दूरों और मालिकों के सम्बन्धों के क्षेत्र के बाहर से। वह जिस एकमात्र क्षेत्र से आ सकती है, वह राज्यसत्ता तथा सरकार के साथ सभी वर्गों तथा स्तरों के सम्बन्धों का क्षेत्र है, वह सभी वर्गों के आपसी सम्बन्धों का क्षेत्र है।"

मज़दूरों की ट्रेड यूनियन राजनीति और क्रान्तिकारी राजनीति के बीच फर्क को और साफ करने के लिए इसी पुस्तक में लेनिन ने कहा है: "...हर ट्रेड यूनियन का, ...सचिव आर्थिक संघर्ष चलाने में हमेशा मज़दूरों की मदद करता है,...उन कानूनों तथा पगों के अनौचित्य का पर्दाफ़ाश करता है, जिनसे हड़ताल करने और धरना देने... की स्वतन्त्रता पर आघात होता है, वह मज़दूरों को समझाता है कि पंच-अदालत का जज, जो स्वयं बुर्जुआ वर्गों से आता है, पक्षपातपूर्ण होता है, आदि-आदि। सारांश यह कि "मालिकों तथा सरकार के खिलाफ़ आर्थिक संघर्ष" ट्रेड यूनियन का प्रत्येक सचिव चलाता है और उसके संचालन में मदद करता है। पर इस बात को हम जितना ज़ोर देकर कहें, वह थोड़ा है कि बस इतने से ही सामाजिक-जनवाद (मज़दूर वर्ग की क्रान्तिकारी राजनीति–सं.) नहीं हो जाता, कि सामाजिक जनवादी का आदर्श ट्रेड यूनियन का सचिव नहीं, बल्कि एक ऐसा जन-नायक होना चाहिए, जिसमें अत्याचार और उत्पीड़न के प्रत्येक उदाहरण से, वह चाहे किसी भी स्थान पर हुआ हो और उसका चाहे किसी भी वर्ग या स्तर से सम्बन्ध हो, विचलित हो उठने की क्षमता हो, उसमें इन तमाम उदाहरणों का सामान्यीकरण करके पुलिस की हिंसा तथा पूँजीवादी शोषण का एक अविभाज्य चित्र बनाने की क्षमता होनी चाहिए; उसमें प्रत्येक घटना का, चाहे वह कितनी ही छोटी क्यों न हो, लाभ उठाकर अपने समाजवादी विश्वासों तथा अपनी जनवादी माँगों को सभी लोगों को समझा सकने और सभी लोगों को सर्वहारा के मुक्ति-संग्राम का विश्व-ऐतिहासिक महत्व समझा सकने की क्षमता होनी चाहिए।"

गोरखपुर में भी ऐसा देखा गया कि आन्दोलन के अवसर का लाभ उठाते हुए कार्यकर्त्ता संघर्षरत मज़दूरों के भीतर उग्र ट्रेड यूनियन राजनीति की चेतना ही विकसित करने के काम में जुटे रहे। जबकि लेनिन का कहना है कि हर छोटी से छोटी घटना का लाभ उठाते हुए अपने "समाजवादी विश्वासों" तथा "सर्वहारा के मुक्ति-संग्राम के विश्व-ऐतिहासिक महत्व" को समझाना चाहिए। मज़दूरों के रोज़मर्रा के आर्थिक संघर्षों में शिरकत करते समय हमारा मुख्य काम उनके भीतर मज़दूर वर्ग राजनीति की चेतना विकसित करना होना चाहिए लेकिन इस मुख्य काम को यूनियन के रोज़मर्रा के झगड़ों और मालिकों के षड्यंत्रों से उलझने के काम ने पीछे धकेल दिया। तात्कालिक लक्ष्यों या हार-जीत का सवाल ही प्रमुख बन गया।

हमें उम्मीद है कि आन्दोलन का नेतृत्व इन चूकों-ग़लतियों से सीखकर मज़दूरों के बीच राजनीतिक कामों पर ध्यान देगा और आन्दोलन पहले से भी व्यापक आधार पर तथा ज़्यादा ठोस ढंग से संगठित होकर नयी ताक़त के साथ उठ खड़ा होगा। नेतृत्व को अनेकानेक तरीक़ों से मज़दूरों की चेतना को उन्नत करने के लिए उनके बीच राजनीतिक व सांस्कृतिक काम करना होगा और उन्नत आधार पर आगे के व्यापक संघर्षों के लिए मज़दूरों को तैयार करना होगा।

आज की वस्तुगत स्थिति यदि मालिकों के पक्ष में है तो कल की वस्तुगत स्थिति निश्चित तौर पर मज़दूरों के पक्ष में होनी है। जो गोरखपुर में हो रहा है, वही पूरे देश के सभी कारखानों में हो रहा है। ठेकाकरण-दिहाड़ीकरण का सिलसिला जारी है। ऐसी स्थिति में आने वाले दिनों में व्यापक मज़दूर एकता का भौतिक आधार तैयार और मज़बूत होगा, यह तय है। इसके मद्देनजर हमें अपनी तैयारी तेज कर देनी होगी और रत्तीभर भी ढिलाई नहीं करनी होगी।

पूँजीवादी विकास के प्रारम्भिक दिनों में ट्रेड यूनियनों का बनना मज़दूर वर्ग के लिए एक भारी प्रगतिशील कदम था, क्योंकि उनके ज़रिए मज़दूरों की फूट तथा निस्सहाय अवस्था का अन्त हुआ था और उनके वर्ग संगठन के प्रारम्भिक रूपों की नींव पड़ी थी। जब सर्वहारा वर्ग के संगठन का सबसे ऊँचा स्वरूप प्रकट हुआ, अर्थात् सर्वहारा वर्ग की क्रान्तिकारी पार्टी (जो केवल तभी अपना नाम चरितार्थ करेगी जब नेताओं को वर्ग तथा आम जनता के साथ एक अविच्छिन्न इकाई में बाँधने की कला सीख लेगी) प्रकट होने लगी तब, अवश्यम्भावी रूप से, ट्रेड यूनियनों में कुछ प्रतिक्रियावादी बातें – एक प्रकार पेशागत संकुचित मनोवृत्ति, एक गैर-राजनीतिक प्रवृत्ति, एक प्रकार की जड़ता, आदि दिखलायी देने लगीं; किन्तु सर्वहारा वर्ग का विकास ट्रेड यूनियनों के माध्यम को छोड़कर, उनके और मज़दूर वर्ग की पार्टी के पारस्परिक आदान-प्रदान की क्रिया के माध्यम को छोड़कर, और किसी ढंग से न तो दुनिया में कहीं हुआ है, और न हो ही सकता था। सर्वहारा वर्ग का राजसत्ता पर अधिकार करना एक वर्ग की हैसियत से सर्वहारा वर्ग के लिए एक बहुत बड़ा प्रगतिशील कदम है और पार्टी को चाहिए कि ट्रेड यूनियनों को वह हमेशा से भी अधिक – और केवल पुराने ढंग से नहीं, बल्कि नये तरीके से शिक्षा दे और उनका पथ-प्रदर्शन करे। साथ ही साथ, इस बात को भी वह याद रखे कि ट्रेड यूनियनें "कम्युनिज़्म का स्कूल" हैं, और बहुत दिनों तक बनी रहेंगी; वे तैयारी करने का एक ऐसा स्कूल हैं जो सर्वहारा वर्ग को अपने अधिनायकत्व का इस्तेमाल करने की ट्रेनिंग (शिक्षा) देता है, वे मज़दूरों का एक ऐसा आवश्यक संगठन है जिसके ज़रिए देश के पूरे आर्थिक जीवन की बागडोर धीरे-धीरे मज़दूर वर्ग के (और अलग-अलग पेशों के नहीं) हाथ में और, बाद में सारी मेहनतकश जनता के हाथ में पहुँच जाती है।

– लेनिन ("वामपन्थी" कम्युनिज़्म–एक बचकाना मर्ज़)

बरगदवा, गोरखपुर का मज़दूर आन्दोलन

कुछ ज़रूरी सबक़, कुछ कठिन चुनौतियाँ

गोरखपुर के बरगदवा इलाक़े के कारख़ाना मज़दूरों का जुझारू संघर्ष पिछले तीन वर्ष से चर्चा में रहा है। पूर्वी उत्तर प्रदेश के एक पिछड़े इलाक़े में उद्योगपतियों, प्रशासन और राजनेताओं की सम्मिलित ताक़त का अपनी एकजुटता के दम पर मुक़ाबला करते हुए मज़दूरों ने कई सफलताएँ हासिल कीं। पूर्वी उत्तर प्रदेश के एक बेहद पिछड़े इलाक़े में मज़दूरों के इस सफल संघर्ष ने यह साबित किया कि अगर मज़दूर एकजुट रहें, भ्रष्ट, धन्धेबाज़ ट्रेड यूनियन नेताओं के बहकावे में न आयें और मालिक-पुलिस-प्रशासन-नेताशाही की धमकियों और झाँसों के असर में आये बिना अपनी लड़ाई को सुनियोजित ढंग से लड़ें तो अपने बुनियादी अधिकारों की लड़ाई में छोटी-छोटी जीतें हासिल करते हुए बड़ी लड़ाई में उतरने की तैयारी कर सकते हैं।

मालिक-प्रशासन गँठजोड़ के लगातार जारी षड्यन्त्र और हमले

शुरू से ही इस आन्दोलन को मिलमालिकों, प्रशासन और स्थानीय राजनीतिज्ञों के गँठजोड़ के हमलों और साज़िशों का सामना करना पड़ा है। 2009 में तमाम दमन और कुत्साप्रचार के बावजूद मज़दूरों ने कई बार शानदार जीतें हासिल कीं और इस गँठजोड़ को पीछे हटने और कई माँगों पर राज़ी होने के लिए मजबूर कर दिया। तभी से मालिकान मज़दूरों की एकता को तोड़ने के लिए तरह-तरह के घटिया हथकण्डों को आज़माते रहे हैं। लाखों रुपये खर्च करके मज़दूरों के बीच से कुछ भितरघातियों को ख़रीदकर उन्होंने यूनियन और मज़दूर नेताओं के ख़िलाफ़ घटिया क़िस्म का झूठा प्रचार चलाया और यूनियन में तोड़फोड़ की हरचन्द कोशिशें करते रहे। लेकिन वे मज़दूरों की एकजुटता को तोड़ने में नाकाम रहे। मई 2011 में माँगपत्रक आन्दोलन की दिल्ली रैली में बड़ी संख्या में गोरखपुर के मज़दूरों के भाग लेने से मालिकान इस क़दर बौखला गये कि दिल्ली से मज़दूरों के लौटने पर उन्हें सबक़ सिखाने के लिए भाड़े के गुण्डे बुला लिये। 3 मई 2011 की सुबह अंकुर उद्योग के गेट पर इन गुण्डों द्वारा चलायी गयी गोलियों से 19 मज़दूर घायल हो गये जिनमें से एक की हालत अब भी गम्भीर बनी हुई है। इस बर्बर हमले के बाद भी मालिकों और स्थानीय सांसद की शह पर ज़िला प्रशासन ने गोलीकाण्ड के अपराधियों और अंकुर उद्योग के मालिक के ख़िलाफ़ कार्रवाई करने के बजाय मज़दूरों और उनके नेताओं को ही प्रताड़ित करना शुरू कर दिया जिसके विरुद्ध एक बार फिर मज़दूरों ने लम्बा आन्दोलन चलाकर मालिक-प्रशासन गँठजोड़ को पीछे हटने पर मजबूर किया। अंकुर उद्योग के मालिक अशोक जालान के ख़िलाफ़ मुक़दमा दर्ज हुआ और जाँच की कार्रवाई शुरू की गयी।

इसके बाद से ही आन्दोलन को कमज़ोर करने के लिए तरह-तरह के षड्यन्त्र जारी हैं। बरगदवा में जिन उद्योगपतियों के कारख़ाने हैं उनमें से ज़्यादातर ने गोरखपुर ज़िले के सहजनवा में गोरखपुर औद्योगिक विकास प्राधिकरण (गीडा) के औद्योगिक इलाक़े में बड़े-बड़े कारख़ाने लगाने की तैयारियाँ कर रखी हैं और वे डरे हुए हैं कि अगर मज़दूरों की इस एकजुटजा और जुझारूपन को कुचला नहीं गया तो गीडा में सभी श्रम क़ानूनों को ताक पर रखकर मज़दूरों को निचोड़ना मुश्किल हो जायेगा। इसलिए वे पानी की तरह पैसा बहा रहे हैं।

पिछले साल के गोलीकाण्ड में घायल मज़दूर पप्पू जायसवाल और उसकी पत्नी को गुण्डों से लगातार धमकियाँ दी जा रही हैं कि वे मालिकों पर दर्ज मुक़दमे वापस ले लें। मालूम हो कि पप्पू की रीढ़ में गोली लगी थी और वह अब भी काम करने की हालत में नहीं है। उसका सारा खर्च यूनियन ही उठा रही है। पिछले 11 दिसम्बर को अंकुर उद्योग में घुसकर गुण्डों ने राजदेव नाम के मज़दूर के साथ मारपीट की। रिपोर्ट पर पुलिस ने तो कोई कार्रवाई नहीं की लेकिन कम्पनी ने घायल मज़दूर और उसे प्राथमिक उपचार दिलाने तथा रपट लिखाने में मदद करने वाले चार साथियों पर उपद्रव करने का आरोप मढ़कर निलंबन की धमकी भरा पत्र जारी कर दिया। मालिकों की ओर से मज़दूरों में तोड़फोड़ की कार्रवाइयों की अगुवाई कर रहा सुरेन्द्रपति त्रिपाठी नाम का एक दलाल वकील पिछले 31 दिसम्बर को 20-25 गुण्डों के साथ अंकुर उद्योग के गेट पर पहुँचा और मज़दूरों को जबरिया मीटिंग के लिए रोकने लगा। मज़दूरों ने इसका विरोध किया तो वे लोग मारपीट पर उतारू हो गये जिसमें कई मज़दूरों को चोटें आयीं। पुलिस ने वकील की ओर से मज़दूरों पर झूठे मुक़दमे तो दर्ज कर लिये लेकिन मज़दूरों को गालियाँ देकर भगा दिया। बाद में डीआईजी कार्यालय पर प्रदर्शन करने पर मज़दूरों की ओर से भी रिपोर्ट दर्ज हुई लेकिन गुण्डों को गिरफ़्तार करने के बजाय उल्टे कई मज़दूरों को ही गिरफ़्तार कर लिया गया। संजय दुबे नामक मज़दूर को चिलुआताल थाने में बुरी तरह मारा-पीटा गया और सादे कागज़ पर दस्तख़त करा लिये गये। बाद में उस पर धारा 329 (लूटपाट, अवैध वसूली) भी लगा दी गयी। दो महीने बाद भी उसकी ज़मानत नहीं हो सकी है। पुलिस की पूरी साँठगाँठ से मज़दूर नेताओं पर फ़र्ज़ी मुक़दमे दर्ज कराये गये और फिर इन्हीं फ़र्ज़ी मुक़दमों के आधार पर बिगुल मज़दूर दस्ता से जुड़े और 2009 से ही आन्दोलन को नेतृत्व दे रहे तपीश मेन्डोला, प्रमोद कुमार, प्रशान्त और अगुवा मज़दूर चन्द्रभूषण पर गुण्डा ऐक्ट लगाकर उन्हें जनवरी 2012 में छह महीने के लिए ज़िलाबदर कर दिया गया। मालिकों को उम्मीद है कि नेतृत्व के अभाव में मज़दूरों में झूठा प्रचार और भ्रम फैलाकर वे अपने मक़सद में कामयाब हो जायेंगे। लेकिन मज़दूर एकजुट हैं और मालिकों की चालों को अच्छी तरह समझ भी रहे हैं।

अब तक के नकारात्मक-सकारात्मक अनुभवों से सीखकर अगले दौर की कठिन चुनौतियों का सामना करने की तैयारी

आन्दोलन में आये इस मोड़ पर ज़रूरी है कि मज़दूर थोड़ा ठहरकर अब तक के नकारात्मक और सकारात्मक अनुभवों का विश्लेषण करें और आगे के लिए ज़रूरी नतीजे निकालकर अगले दौर की लड़ाई की तैयारी में जुट जायें। किसी एक कारख़ाने के संघर्ष में मज़दूर जीतते भी हैं और हारते भी हैं। पूँजीपतियों-मज़दूरों के बीच लम्बी लड़ाई जिन वर्ग-सचेत मज़दूरों और उनके अगुआ दस्तों की आँखों के सामने हर-हमेशा मौजूद रहती है, उनके लिए सबसे ज़रूरी यह होता है कि वे किसी एक कारख़ाने या किसी एक सेक्टर के मज़दूरों के किसी भी आन्दोलन की हार या जीत दोनों से ही ज़रूरी सबक़ निकालें और उससे व्यापक मज़दूर आबादी को परिचित करायें। यदि सही, वस्तुपरक और वैज्ञानिक ढंग से सबक़ निकाले जायें और अपनी कमज़ोरियों की बेलाग-लपेट पड़ताल की जाये तो आज की कठिनाइयों को को कल की सफलता में बदला जा सकता है, संघर्ष को व्यापक आधार दिया जा सकता है और उसे पूँजी के विरुद्ध श्रम की दीर्घकालिक लड़ाई की मज़बूत कड़ी बनाया जा सकता है। इसी नज़रिये से हमें बरगदवा के मज़दूर आन्दोलन का विश्लेषण करना चाहिए और उसकी कमियों-कमजोरियों की भी पड़ताल करके ज़रूरी निचोड़ और सबक़ निकालने चाहिए। यदि अपने अनुभवों से सही ढंग से सीखा जाये और अपनी कमजोरियों को सही ढंग से समझकर आगे के कार्यभार तय किये जायें तो छोटी-मोटी हारों को एक फैसलाकुन जीत की नींव के पत्थरों में तब्दील किया जा सकता है।

आर्थिक संघर्ष मज़दूर वर्ग का बुनियादी संघर्ष है। इसके ज़रिये वह लड़ना और संगठित होना सीखता है। मुख्यत: ट्रेडयूनियनें इस संघर्ष के उपकरण की भूमिका निभाती हैं और इस रूप में वर्ग-संघर्ष की प्राथमिक पाठशाला की भूमिका निभाती हैं। लेकिन आर्थिक संघर्ष मज़दूर वर्ग को सिर्फ़ कुछ राहत, कुछ रियायतें और कुछ बेहतर जीवनस्थितियाँ ही दे सकते हैं। वे पेशागत संकुचित मनोवृत्ति को तोड़कर मज़दूरों को उनकी व्यापक वर्गीय एकजुटता की ताक़त का अहसास नहीं करा सकते। न ही वे उन्हें अपनी मुक्ति की सम्भाव्यता और पूँजीवादी व्यवस्था के विरुद्ध संघर्ष की आवश्यकता का अहसास करा सकते हैं। ऐसा केवल राजनीतिक माँगों पर संघर्ष के द्वारा ही सम्भव है।

मज़दूर आन्दोलनों का इतिहास और मज़दूर क्रान्ति का विज्ञान हमें बताता है कि आर्थिक संघर्ष कभी भी अपनेआप, स्वयंस्फूर्त ढंग से राजनीतिक संघर्ष में रूपान्तरित नहीं हो जाते। आर्थिक संघर्षों के साथ-साथ शुरू से ही मज़दूर वर्ग राजनीतिक संघर्षों को भी चलाये, तभी मज़दूर वर्ग पूँजीपति वर्ग के विरुद्ध अपने संघर्ष को आगे बढ़ा सकता है। राजनीतिक संघर्ष तब तक रोज़मर्रा के संघर्षों के अंग के तौर पर प्रारम्भिक अवस्था में होते हैं तभी तक ट्रेडयूनियनों के माध्यम से उनका संचालन सम्भव होता है।

ट्रेड यूनियनों के भीतर प्राण संचार और सच्चा नेतृत्व विकसित करने का सवाल सीधे यूनियनों के भीतर जनवाद की बहाली से जुड़ा हुआ है, जिससे मज़दूरों की पहलकदमी जागे और निर्णय लेने की प्रक्रिया में आम मज़दूरों की भागीदारी सुनिश्चित हो। इनमें नियमित आम सभाएँ और समय से चुनाव होने चाहिए। केवल तभी नेतृत्व पर अंकुश लगाया जा सकता है। यूनियन सदस्यों को केवल चन्दा देने वाले निष्क्रिय सदस्य नहीं बने रहना चाहिए बल्कि उन्हें अपने ट्रेड यूनियन अधिकारों के लिए सामूहिक संघर्ष को आगे बढ़ाना चाहिए। इसकी पूर्वशर्त है कि यूनियन के रोजमर्रा के कामों में आम मज़दूर सक्रिय दिलचस्पी लें और उनमें भागीदारी करें। ट्रेड यूनियनों को "वर्ग संघर्ष की प्राथमिक पाठशाला" कहा गया है। लेकिन अगर ट्रेड यूनियनें केवल रोज़मर्रा के स्थानीय कामों और सतत चलने वाले दाँवपेंचों में ही उलझी रहेंगी तो वे मज़दूरों को व्यापक संघर्षों के लिए तैयार करने के अपने कार्यभार को पूरा नहीं कर पायेंगी। ऐसे कामों में कुछ ही मज़दूरों की भागीदारी बनती है और व्यापक मज़दूर आबादी की राजनीतिक शिक्षा और प्रशिक्षण नहीं हो पाता है।

एक महत्वपूर्ण सबक़ है आम मज़दूर आबादी को अपनी हर लड़ाई में जुझारू और सक्रिय भागीदारी के लिए तैयार करना। इसके लिए भी हमें मज़दूरों के बीच धैर्यपूर्वक राजनीतिक शिक्षा एवं प्रचार की कार्रवाई चलानी होगी। रोज़मर्रा के जीवन और संघर्षों के दौरान मज़दूर वर्ग को लगातार उसके ऐतिहासिक मिशन की याद दिलाना होता है, उसे लगातार यह बताना होता है कि छोटी-छोटी लड़ाइयाँ लड़ते हुए मज़दूरों को क्रान्तिकारी बदलाव की फैसलाकुन लड़ाई के लिए तैयार होना होता है और यह कि मज़दूर क्रान्ति ही अन्ततोगत्वा मज़दूर वर्ग पर छाई तमाम आपदाओं और जुल्मों का खात्मा कर सकती है। इसी प्रचार, शिक्षा एवं आन्दोलन के अमली प्रशिक्षण के दौरान ही मज़दूरों के बीच में उनका सच्चा क्रान्तिकारी नेतृत्व विकसित होता है, जो संघर्ष के आगे की मंजिलों में विकास की एक बुनियादी शर्त है।

किसी फैक्ट्री के आर्थिक संघर्ष में अक्सर ही पुलिस-प्रशासन दखल देकर खुद ही उसे राजनीतिक रूप दे देता है। यह भूमण्डलीकरण के दौर की विशेषता नहीं है। जबसे मज़दूरों ने अपनी सहज ट्रेड यूनियन चेतना के चलते अपने मालिकों के ख़िलाफ़ आर्थिक संघर्षों की शुरुआत की है तब से उनके संघर्ष में पुलिस-प्रशासन हस्तक्षेप करता ही रहा है। पूरी दुनिया में यह होता है। गोरखपुर के आन्दोलन में यह बार-बार हुआ। आज के दौर की विशेषता यह ज़रूर है कि पुलिस-प्रशासन का हस्तक्षेप पहले के

(पेज 4 पर जारी)

सवाल यह पैदा होता है : राजनीतिक शिक्षा में क्या होना चाहिए? क्या उसे केवल निरंकुश शासन के प्रति मज़दूर वर्ग की शत्रुता के प्रचार तक ही सीमित रखा जा सकता है? हरगिज़ नहीं। मज़दूरों को उनका राजनीतिक उत्पीड़न समझाना काफ़ी नहीं है (जिस प्रकार मज़दूरों को यह समझाना काफ़ी नहीं था कि उनके हितों और मालिकों के हितों में परस्पर विरोध है)। इस उत्पीड़न की प्रत्येक ठोस मिसाल को लेकर आन्दोलन करना चाहिए (जिस प्रकार हमने आर्थिक उत्पीड़न की ठोस मिसालों को लेकर आन्दोलन करना शुरू कर दिया है)। और यह उत्पीड़न चूंकि समाज के विभिन्नतम वर्गों पर असर डालता है और चूंकि यह जीवन तथा कार्य के व्यवसायगत, नागरिक, वैयक्तिक, पारिवारिक, धार्मिक, वैज्ञानिक, आदि विभिन्न क्षेत्रों में प्रकट होता है, इसलिए क्या यह स्पष्ट नहीं है कि जब तक हम निरंकुशल शासन का सर्वांगीण राजनीतिक भण्डाफोड़ संगठित नहीं करें, तब तक हम मज़दूरों की राजनीतिक चेतना को विकसित करने के अपने काम को पूरा नहीं कर सकेंगे? जुल्म की ठोस मिसालों को लेकर आन्दोलन करने के वास्ते ज़रूरी है कि इन मिसालों का भण्डाफोड़ किया जाये (जिस प्रकार आर्थिक आन्दोलन चलाने के वास्ते ज़रूरी था कि कारख़ानों की बुराइयों का भण्डाफोड़ किया जाये)।

– लेनिन (क्या करें?)

लुधियाना के पॉवरलूम मज़दूरों का विजयी संघर्ष

उपलब्धियों को मज़बूत बनाते हुए, कमियों-कमज़ोरियों से सबक़ लेकर आगे बढ़ने की ज़रूरत

विशेष संवाददाता

टेक्सटाइल मज़दूर यूनियन के नेतृत्व में लुधियाना के 150 टेक्सटाइल कारख़ानों के मज़दूर 22 सितम्बर 2011 से नवम्बर 2011 के अन्त तक लगभग दो महीने हड़ताल पर रहे। मज़दूर अपनी कुछ माँगें मनवाने में सफल रहे और विजयी अन्दाज़ में कारख़ानों में लौटे।

लुधियाना के टेक्सटाइल सेक्टर में लाखों मज़दूर काम करते हैं। अन्य सभी सेक्टरों के कारख़ानों की तरह ही टेक्सटाइल कारख़ानों में मालिकों का जंगलराज क़ायम है। श्रम क़ानूनों का यहाँ नामोनिशान नहीं है। काम के घण्टों की कोई सीमा नहीं है। मालिक मज़दूरों से मनमर्ज़ी से काम लेते हैं और मनमर्ज़ी से ही वेतन देते हैं। मज़दूरों की आमदनी इतनी कम है कि वे न तो अच्छी ख़ुराक़ ले सकते हैं, न ही ढंग का दवा-इलाज़ करा पाते हैं और न ही अपने बच्चों को पढ़ा पाते हैं। कम आमदनी के चलते लाखों मज़दूर गन्दी बस्तियों में या मुर्ग़ीख़ानों की तर्ज़ पर बने गन्दे बेड़ों में, एक कमरे में चार-चार लोग रहने को मज़बूर हैं। मालिकों द्वारा गाली-गलौच, मारपीट, काम करा कर पैसे न देने की घटनाएँ आम बात हैं। ऐसी दमघोंटू परिस्थितियों में जीते हुए मज़दूरों में रोष पैदा होना स्वाभाविक ही है।

2010 में भी टेक्सटाइल मज़दूरों ने अपने हक़ के लिए लगभग 36 दिन लम्बी विजयी हड़ताल की थी। इस बार टेक्सटाइल मज़दूर यूनियन ने मज़दूरों के अधिकारों की माँगें मनवाने के लिए योजनाबद्ध संघर्ष करने का फैसला लिया। सबसे पहले एक पर्चा छाप कर मज़दूरों की पंचायत बुलायी गयी। बारिश के बावजूद लगभग 800 मज़दूर इस पंचायत में शामिल हुए। मज़दूरों की माँगें सूत्रबद्ध की गयीं, जिनमें मुख्य माँगें थीं - (1) वेतन/पीस रेट में बढ़ोत्तरी (2) ई.एस.आई. कार्ड बनवाना (3) बोनस और छुट्टियों के पैसे लेने आदि। एक माँगपत्र बनाकर मज़दूरों के विभिन्न कारख़ानों के मालिकों को दिया गया। श्रम अधिकारियों की हाज़िरी में दो बार मालिकों और यूनियन के दरमियान वार्ता हुई, लेकिन असफल रही। मालिक कोई भी माँग मानने को तैयार नहीं थे और वार्ता की प्रक्रिया को लटकाकर टेक्सटाइल सीज़न को निकालना चाहते थे। वार्ता टूटने के बाद मज़दूर हड़ताल पर चले गए। बाद में अन्य इलारक़ों के मज़दूर भी इस संघर्ष में शामिल होते गए। एक बार तो हड़ताल में शामिल कारख़ानों की संख्या 160 तक जा पहुँची थी।

मालिकों ने हड़ताल शुरू होते ही अपनी एसोसिएशन बना ली। पुलिस-प्रशासन, श्रम विभाग, सब कारख़ाना मालिकों की सेवा में तैयार थे। मालिकों ने हड़ताली मज़दूरों से किसी भी प्रकार की बातचीत से इनकार करके हड़ताल को लटकाने की राह अपनायी। उन्हें उम्मीद थी कि भूखे मरते मज़दूर जल्द ही निराश होकर काम पर लौट आयेंगे, लेकिन ऐसा न हुआ। मज़दूर हड़ताल पर डटे रहे। आख़िर दो महीने लम्बी हड़ताल के बाद मालिक झुकने के लिए मजबूर हुए। इस लम्बी लड़ाई में मज़दूर विजयी रहे।

हड़ताल की उपलब्धियाँ, कमियाँ, कमज़ोरियाँ और सबक़

(1) मज़दूर दो महीने तक हड़ताल जारी रख पायेंगे इसकी न तो मालिकों को उम्मीद थी और न ही यूनियन के नेतृत्व को। मज़दूरों ने इतना लम्बा संघर्ष करके मालिकों के भ्रम को तोड़ा है और यूनियन नेताओं की भी समझ बढ़ायी है। इस संघर्ष में मज़दूरों की सबसे बड़ी प्राप्ति तो यह रही है कि उनका संगठन इस संघर्ष में और भी मज़बूत होकर निकला है। मज़दूरों का अपने नेताओं की ईमानदारी, साहस और समझदारी पर भरोसा और भी बढ़ा है। मज़दूरों ने भी इस लड़ाई में अपनी सचेतनता और बहादुरी दिखाई। न तो उन्हें मालिकों द्वारा फ़ैलाई अफ़वाह प्रभावित कर पायी कि यूनियन के नेता बिक चुके हैं, और न ही उन्हें इस संघर्ष पर मालिकों द्वारा लगाया गया आतंकवाद का ठप्पा डरा पाया। साथ ही मज़दूरों की कुछ माँगें भी मानीं गयीं। इस संघर्ष में मज़दूरों के हौसले बुलन्द हुए जबकि मालिकों के हौसले पस्त हुए। इस संघर्ष में तीन तरह के मज़दूर शामिल थे। एक तो उन इलाक़ों के मज़दूर थे जहाँ यूनियन का पुराना आधार था और 2010 की हड़ताल के बाद इन इलाक़ों के मज़दूरों का एक हिस्सा यूनियन की साप्ताहिक मीटिंगों में लगातार शामिल होता रहा। और बाक़ी काफ़ी बड़ी संख्या में मज़दूर यूनियन के सदस्य थे, लेकिन न तो वे यूनियन की साप्ताहिक मीटिंगों में आते थे और न ही किसी अन्य माध्यम से यूनियन से जीवन्त सम्पर्क रखते थे। तीसरे, नए इलाक़ों के मज़दूर थे जो हड़ताल शुरू होने पर इस में शामिल हुए थे। इन मज़दूरों की संख्या कम थी और हड़ताल लम्बी खिंचते देखकर अपने कारख़ानों के मालिकों से ज़ुबानी समझौता करके जल्द ही काम पर लौट गए। लेकिन ये मज़दूर फिर भी यूनियन से जुड़े रहे। क्योंकि इन मज़दूरों की राजनीतिक शिक्षा के लिए कोई काम नहीं हुआ था, इसलिए इनका वापस जाना स्वाभाविक था। यूनियन नेताओं ने भी समझदारी दिखायी, इन मज़दूरों के खिलाफ़ कुत्साप्रचार करने की बजाय इन्हें अपने साथ जोड़े रखा। दूसरे, यूनियन के पुराने आधार वाले इलाक़ों के मज़दूर थे, जो संघर्ष लम्बा खिंचता देख या तो गाँवों को चले गये, या कमरों में बैठे रहते, या कहीं इधर-उधर काम करने लगे और समय-समय पर संघर्ष के कार्यक्रमों में शामिल होते रहते। इस संघर्ष की रीढ़ वे मज़दूर थे जिनके साथ राजनीतिक शिक्षा का काम पूरे साल चला था। ये मज़दूर अन्त तक डटे रहे और अन्य डोलते-लड़खड़ाते मज़दूरों के लिए भी प्रेरणा का स्रोत बने रहे। यहाँ यूनियन नेतृत्व की कमी रही कि वह हड़ताली मज़दूरों से जीवन्त सम्पर्क में नहीं रही। जागरूक मज़दूरों की टीमें बनाकर कमरों पर बैठे रहने वाले मज़दूरों के साथ जीवन्त सम्पर्क क़ायम रखना चाहिए था और उन्हें रोज़-रोज़ के संघर्ष कार्यक्रमों में हिस्सा लेने के लिए प्रेरित करना चाहिए था।

(2) 2010 के संघर्ष की तरह इस बार टेक्सटाइल मज़दूरों के संघर्ष की बड़ी कमी यह रही कि इसमें स्त्री मज़दूरों और मज़दूरों की पत्नियों की भागीदारी नाममात्र रही। इस कमी का एक कारण मज़दूरों का सांस्कृतिक पिछड़ापन भी है। इस दिशा में मज़दूर नेताओं को अधिक सचेतन प्रयास करने पड़ेंगे ताकि आने वाले समय में मज़दूर वर्ग के आधे हिस्से (स्त्रियों) को संघर्ष की अगली क़तारों में लाया जा सके।

(3) इस संघर्ष की तीसरी कमी यह रही है कि इसका टेक्सटाइल सेक्टर के अन्य क्षेत्रों में फैलाव नहीं हुआ। यूनियन नेतृत्व ने इस दिशा में कोई ख़ास कोशिश भी नहीं की। अगर अन्य क्षेत्रों के मज़दूरों का हड़ताल में जाना सम्भव नहीं भी था तो भी उनसे (टेक्सटाइल सेक्टर के अलावा अन्य मज़दूरों से भी) हड़ताली मज़दूरों के लिए आर्थिक सहयोग जुटाने और धरना-प्रदर्शनों में समय-समय पर उनकी भागीदारी की कोशिशें की जानी चाहिए थीं।

(4) टेक्सटाइल मज़दूर इस बार भी 2010 की हड़ताल में हुई जीत से बहुत अधिक उत्साहित थे। जबकि मालिक यूनियन से वार्ता लटका रहे थे और मज़दूर, यूनियन नेतृत्व पर जल्द से जल्द अनियतकालीन हड़ताल के लिए दबाव बना रहे थे। यूनियन नेतृत्व भी अनुभव की कमी के कारण मज़दूरों के इस दबाव के आगे झुक गया। नहीं तो अनियतकालीन हड़ताल पर जाने की बजाए मालिकों पर संघर्ष का दबाव बनाने के लिए संघर्ष के अन्य रूप जैसेकि टूल डाउन, कुछ समय बाद एक दिवसीय हड़ताल, धरना-प्रदर्शन आदि भी अपनाये जा सकते थे। लेकिन यूनियन नेतृत्व के लिए यह सीखने के लिए इस हड़ताल के अनुभव से गुज़रना ज़रूरी था। सब कुछ किताबें पढ़कर नहीं सीखा जा सकता। सीखने के लिए व्यवहारिक अनुभव की भी ज़रूरत होती है।

(5) इस संघर्ष ने कारख़ाना मालिकों, श्रम अधिकारियों, पुलिस-प्रशासन के गठबन्धन को भी मज़दूरों की नज़रों में नंगा किया। मज़दूरों ने बार-बार श्रम विभाग के कार्यालय और डिप्टी कमिश्नर के कार्यालय पर धरने दिये, प्रदर्शन किये, लेकिन मज़दूरों को झूठे वायदों के सिवा कुछ न मिला। मज़दूरों को यह समझदारी हासिल हुई कि उनकी एकमात्र उम्मीद उनकी एकता व संगठन है। अब मज़दूर नेताओं की यह ज़िम्मेदारी है कि वे मज़दूरों की इस समझदारी को और विकसित करें। मज़दूरों को शिक्षा दी जानी चाहिए कि मज़दूर वर्ग की अन्तिम मुक्ति इस लुटेरी पूँजीवादी व्यवस्था को बदलकर समाजवादी व्यवस्था के निर्माण से ही सम्भव होगी।

मज़दूर अपनी छोटी-छोटी आर्थिक लड़ाइयों (जो कि बेहद ज़रूरी हैं) से खुद-ब-खुद समाजवाद के लिए लड़ना नहीं सीख लेंगे। बल्कि मज़दूरों को समाजवादी चेतना से लैस करना मज़दूर नेताओं का काम है। आर्थिक संघर्ष की जीत की ख़ुशी में मगन होने के बजाए लेनिन की यह शिक्षा हमेशा याद रखनी चाहिए कि आर्थिक संघर्ष, मज़दूरों की समाजवादी शिक्षा के अधीन होने चाहिए न कि इसके विपरीत। मज़दूरों में समाजवादी चेतना के प्रचार-प्रसार की कार्रवाई संघर्ष के दौरान भी (अगर सम्भव हो तो) और उसके बाद भी लगातार जारी रखनी चाहिए।

लुधियाना के टेक्सटाइल कारख़ाना मालिक दो बार मज़दूरों से हार चुके हैं। मज़दूरों की एकता और संगठन उनके हितों पर निरन्तर चोट कर रही है। निश्चित ही मालिक हाथ पर हाथ धरे नहीं बैठे रहेंगे, वे भी जवाबी हमला करेंगे। इसके प्रति मज़दूरों और यूनियन नेतृत्व को हर वक़्त चौकन्ना रहने की ज़रूरत है। इस चुनौती का सामना करने के लिए मज़दूरों की चेतना, उनकी फौलादी एकता और विशाल संगठन वक़्त की ज़रूरत है।

रोबाचाया मीस्ल की याद ताज़ा करते ही यह बात साफ़ हो जाएगी कि वे इस काम में किस हद तक डूब गये थे। यहां तक कि वे इस बात को भी भूल गये कि यह काम अभी खुद अपने में, अपने सारतत्व की दृष्टि से, सामाजिक-जनवादी काम नहीं, बल्कि ट्रेड-यूनियनवादी काम है। सचाई यह है कि इन भण्डाफोड़ों में महज किसी ख़ास व्यवसाय के मज़दूरों तथा मालिकों के सम्बन्धों की चर्चा रहती थी और उनका केवल यह परिणाम निकलता था कि अपनी श्रम-शक्ति को बेचनेवाले अपना "माल" ज़्यादा बेहतर दामों में बेचना और एक शुद्ध व्यापारिक सौदे को लेकर ख़रीदारी से लड़ना-झगड़ना सीखते थे। इन भण्डाफोड़ों से (यदि क्रान्तिकारियों का संगठन उनका सही उपयोग करता है, तो) सामाजिक-जनवादी कार्य का श्रीगणेश किया जा सकता था और वे इस काम का एक अंग बन सकते थे। परन्तु उनके फलस्वरूप "शुद्ध ट्रेड-यूनियनवादी" संघर्ष और ग़ैर सामाजिक-जनवादी मज़दूर आन्दोलन भी खड़ा हो सकता था (और स्वयंस्फूर्ति की पूजा करने की हालत में यह नतीजा निकलना लाज़िमी था)। सामाजिक-जनवाद केवल श्रम-शक्ति की बिक्री के वास्ते बेहतर दाम हासिल करने के लिए ही नहीं, बल्कि उस सामाजिक व्यवस्था को मिटाने के लिए भी मज़दूर वर्ग के संघर्ष का नेतृत्व करता है, जो सम्पत्तिहीन लोगों को धनिकों के हाथ बिकने के लिए मजबूर करती है। सामाजिक-जनवाद मज़दूर वर्ग का प्रतिनिधित्व करता है केवल मालिकों के किसी एक दल विशेष के साथ उसके सम्बन्ध के मामले में ही नहीं, बल्कि आधुनिक समजा के सभी वर्गों के साथ और एक संगठित राजनीतिक शक्ति के रूप में राज्यसत्ता के साथ उसके सम्बन्ध के मामले में भी। यहाँ यह स्पष्ट है कि सामाजिक-जनवादी केवल आर्थिक सम्बन्ध पर नहीं रुक सकते, वे तो आर्थिक भण्डाफोड़ों को संगठित करने के काम को अपनी गतिविधियों का प्रमुख हिस्सा बनने की इजाज़त भी नहीं दे सकते। हमें मज़दूर वर्ग को राजनीतिक शिक्षा देने और उसकी राजनीतिक चेतना को विकसित करने के काम को बहुत सक्रिय रूप से हाथ में लेना होगा।

– लेनिन (क्या करें?)

मारुति के मज़दूर आन्दोलन से उठे सवाल

मारुति सुज़ुकी के मानेसर, गुड़गाँव स्थित कारख़ाने में पिछले वर्ष जून से लेकर अक्टूबर तक तीन चक्रों में चले मज़दूरों के आन्दोलन से बहुत-से ऐसे सवाल उठे हैं जिन पर आज देश के मज़दूर आन्दोलन को गम्भीरता से सोचने की ज़रूरत है।

मारुति के मज़दूरों ने आन्दोलन के दौरान जुझारूपन और एकजुटता का परिचय दिया लेकिन वे एक संकुचित दायरे से निकलकर अपनी लड़ाई को व्यापक बनाने और इसे सुनियोजित तथा सुसंगठित ढंग से संचालित कर पाने में विफल रहे। महीनों चले इस आन्दोलन में बहुत कुछ हासिल कर पाने की सम्भावना थी जो नहीं हो सका। भले ही आज यूनियन को मान्यता मिल गयी है और आने वाले महीने में स्थायी मज़दूरों के वेतनमान में बढ़ोत्तरी की सम्भावना है, लेकिन मज़दूरों का संघर्ष केवल इन्हीं बातों के लिए नहीं था। कहने को तो यूनियन गुड़गाँव प्लाण्ट में भी है, अगर ऐसी ही एक यूनियन मिल भी जाये तो क्या है? 1200 कैजुअल मज़दूर इस यूनियन का हिस्सा नहीं होंगे। यूनियन के गठन की प्रक्रिया जिस ढंग से चली है, उससे नहीं लगता कि इसमें ट्रेड यूनियन जनवाद के बुनियादी उसूलों का भी पालन किया जायेगा। श्रम क़ानून का सीधे-सीधे उल्लंघन करते हुए मैनेजमेण्ट ने यह दबाव डाला कि यूनियन किसी भी तरह की राजनीति से सम्बद्ध नहीं होगी, और आन्दोलन के तीनों दौरों में बारी-बारी से एटक, एचएमएस और सीटू के गन्दे खेल को देखकर बिदके हुए मज़दूरों ने भी इसे स्वीकार कर लिया।

उलटाव के इस दौर में पीछे हटने के बाद आज मज़दूर वर्ग ज़्यादातर नौकरी बचाने की, और कहीं-कहीं ट्रेड यूनियन अधिकारों की हिफ़ाज़त की जो लड़ाइयाँ लड़ रहा है, वे चाहे मरियल हों या जुझारू, ज़्यादातर उनका नेतृत्व उन्हीं घुटे-घुटाये अर्थवादियों, ट्रेड यूनियन नौकरशाहों और संशोधनवादी पार्टियों के खुर्राटों के हाथ में रहता है और वे आन्दोलन के उन्हीं रूपों का इस्तेमाल करते हैं, जो मूलत: उन्नीसवीं शताब्दी के ट्रेड यूनियन संघर्षों के दौरान पैदा हुए थे। आज, ऐसे कुछ संघर्ष जीते जायें या हारे जायें, बुनियादी सवाल अपनी जगह पर ज्यों का त्यों मौजूद है। ट्रेड यूनियन अधिकारों की कटौती, छँटनी-नौकरियों के ठेकाकरण-दिहाड़ीकरण-अस्थायीकरण और काम के घण्टों की मनमानी बढ़ोत्तरी की अन्धाधुन्ध प्रक्रिया के इस दौर में यहाँ-वहाँ, इस या उस कारखाने में मज़दूर संघर्षों का भड़कते रहना लाज़िमी है। ज़्यादातर इनका नेतृत्व उन्हीं बेईमान ट्रेडयूनियनवादियों के हाथों में होता है या बाद में आ जाता है और ज़्यादातर ये संघर्ष हार के नतीजे तक ही पहुँचते हैं।

विशेष स्थितियों में, जैसेकि मारुति में, मज़दूरों को यदि किसी हद तक आंशिक सफलता मिलती भी है तो वह अस्थायी होती है और ऐसी सफलता कोई नज़ीर नहीं बन सकती, क्योंकि मूल प्रश्न अपनी जगह पर ज्यों का त्यों बना रहता है। बुनियादी सवाल यह है कि मज़दूर हितों पर हमले का चरित्र देशव्यापी है, मज़दूर-विरोधी नीतियों पर सभी पूँजीपतियों की आम सहमति है और सरकार चाहे जिस बुर्जुआ पार्टी या गठबंधन की हो, राज्यसत्ता इन नीतियों को हर कीमत पर लागू करना चाहती है। यानी लड़ाई बुनियादी तौर पर राजनीतिक है, इसलिए इसे पूरी हुकूमत और समूचे पूँजीपति वर्ग के खिलाफ केन्द्रित करने का, संघर्षों के कारखाना-केन्द्रित चरित्र को तोड़कर उन्हें इलाकाई पैमाने पर, और फिर अन्तत: पूरे देश के पैमाने पर, पूरी मज़दूर आबादी के बीच ले जाने का सवाल ही आज का केन्द्रीय प्रश्न हो सकता है।

आन्दोलन ख़त्म होने के बाद मारुति सुज़ुकी का प्रबन्धन थोड़ा पीछे हटकर मज़दूरों को जो थोड़ी सुविधाएँ दे रहा है, उसका मूल कारण यह है कि उसे आन्दोलन के कारण हुए नुक्सान की भरपाई करनी है और विश्वव्यापी मन्दी के दौर में होड़ में पिछड़ जाने की आशंका से बचना है। हाल के वर्षों में, ऐसे ही संघर्षों में जमकर लड़ने के बाद कई जगह अन्तत: मज़दूरों को पीछे ही हटना पड़ा। आगे भी, मज़दूरों को कहीं उतनी भी सफलता की सम्भावना बहुत कम है, जितनी मारुति के मज़दूरों को मिली।

इस पूरे आन्दोलन के दौरान जहाँ केन्द्रीय यूनियनों ने लगातार अपने समझौतापरस्त चरित्र और मरियलपने का परिचय दिया वहीं दूसरी ओर क्रान्तिकारी वाम धारा से जुड़े संगठन और बुद्धिजीवी इस आन्दोलन का महिमामण्डन करने और मज़दूरों की "स्वत:स्फूर्तता की पूजा" करने में जुटे रहे।

बिगुल मजदूर दस्ता जून में हुई हड़ताल के समय से ही लगातार मारुति के मजदूरों से अपील करता रहा कि इस लड़ाई को व्यापक बनाकर ही इसे दमदार तरीके से लड़ा जा सकता है। हम उनके नेतृत्व के साथियों और आम मजदूरों से बार-बार मिलकर बात करते रहे और तीन लिखित पत्र देकर भी कहा कि यह महज़ मारुति के मैनेजमेंट के चन्द भ्रष्ट अधिकारियों या स्थानीय श्रम विभाग की मिलीभगत का मामला नहीं है। उनकी लड़ाई सुज़ुकी कम्पनी, हरियाणा सरकार और नवउदारीकरण के दौर की नीतियों से है। पूरी दुनिया में जापानी कम्पनियाँ अपनी फासिस्ट किस्म की मैनेजमेंट की तकनीकों और मज़दूरों को दबाने के लिए किसी भी हद तक जाने के लिए कुख्यात हैं। हरियाणा को विदेशी निवेश के लिए आकर्षक बनाने में जुटी राज्य सरकार अपना घोर मज़दूर-विरोधी चेहरा लगातार दिखाती रही है, चाहे वह 2006 में होंडा के मज़दूरों के बर्बर दमन का मामला हो या फिर उसके बाद से गुड़गाँव में हुए आन्दोलनों के दमन का मामला हो। केंद्र सरकार जिन आर्थिक नीतियों को धड़ल्ले से लागू कर रही है वे मज़दूरों को बुरी तरह निचोड़े बिना लागू हो ही सकतीं। यह भी नहीं भूलना होगा कि आज पूरी दुनिया में मज़दूरों को मिली सुविधाओं में कटौती और यूनियन के अधिकारों को छीनने की लहर चल रही है। इसलिए इस हमले का मुकाबला मज़दूरों की व्यापक एकजुटता और योजनाबद्ध संघर्ष के दम पर ही किया जा सकता है।

हम मारुति के साथियों के सामने यह सुझाव रखते रहे कि उन्हें जल्द से जल्द अपने आन्दोलन का एक ठोस कार्यक्रम तय करना चाहिए और मानेसर-गुड़गाँव पट्टी के लाखों मज़दूरों को इससे जोड़ने के लिए उनका आह्वान करना चाहिए। हमने आन्दोलन को चरणबद्ध ढंग से चलाने के लिए कुछ ठोस सुझाव भी उनके सामने रखे थे। हमारा सुझाव था कि मारुति सुज़ुकी के मजदूरों की अगुवाई में एक व्यापक मजदूर सत्याग्रह की शुरुआत की जाए। इसे पूरे गुड़गाँव-मानेसर-धारूहेड़ा-बावल- भिवाड़ी क्षेत्र में मैनेजमेंट और प्रशासन की बढ़ती तानाशाही, गुण्डागर्दी, यूनियन के अधिकार के हनन, लेबर डिपार्टमेंट के भ्रष्टाचार और मज़दूरों के शोषण के ख़िलाफ़ व्यापक संघर्ष का रूप दिया जाये। इलाक़े की सभी यूनियनों को एम.एस.ई.यू. की ओर से औपचारिक पत्र देने के साथ-साथ मज़दूरों की टोलियाँ बनाकर पूरे क्षेत्र के कारख़ाना गेटों और मज़दूरों के रिहायशी इलाकों में जमकर प्रचार किया जाए। हज़ारों की संख्या में पर्चे और पोस्टर निकाले जायें। अगले चरण में राष्ट्रीय राजधानी क्षेत्र के मज़दूरों के नाम इस सत्याग्रह में शामिल होने की अपील जारी की जाये। देश में आटोमोबाइल सेक्टर में काम करने वाले सभी मज़दूरों का आह्वान किया जाए कि हर जगह ऐसी ही भयंकर उत्पीड़क परिस्थितियों में काम करने वाले मज़दूर एक होकर इस आवाज़ में अपनी आवाज़ मिलायें। साथ ही दुनियाभर में आटोमोबाइल उद्योग की तमाम यूनियनों से भी साथ देने की अपील की जाए। हमने मारुति के साथियों को बताया कि उनके समर्थन में मानेसर-गुड़गाँव में हज़ारों की संख्या में पर्चे बाँटते और सभाएँ करते हुए हमारा अनुभव यह रहा है कि व्यापक मज़दूर आबादी उनके आन्दोलन का समर्थन करती है मगर इस मौन समर्थन को संघर्ष की एक प्रबल शक्ति में तब्दील करने के लिए सक्रिय प्रयासों और संघर्ष के योजनाबद्ध कार्यक्रम की ज़रूरत है।

मारुति के आन्दोलन में उठे मुद्दे गुड़गाँव के सभी मज़दूरों के साझा मुद्दे थे – लगभग हर कारख़ाने में अमानवीय वर्कलोड, जबरन ओवरटाइम, वेतन से कटौती, ठेकेदारी, यूनियन अधिकारों का हनन और लगभग गुलामी जैसे माहौल में काम कराने से मज़दूर त्रस्त हैं और समय-समय पर इन माँगों को लेकर लड़ते रहे हैं। बुनियादी श्रम कानूनों का भी पालन कहीं नहीं होता। इन माँगों पर अगर मारुति के मज़दूरों की ओर से गुडगाँव, मानेसर, धारूहेड़ा, बावल बेल्ट के लाखों मज़दूरों का आह्वान किया जाता तो एक व्यापक जन-गोलबन्दी की जा सकती थी। आन्दोलन को समर्थन दे रही केन्द्रीय यूनियनों की तो जुझारू संघर्ष की नीयत ही नहीं थी और न अब उनमें ऐसा करने का माद्दा रह गया है। वे अपने पार्टी मुखपत्रों और ट्रेड यूनियन बुलेटिनों में मारुति के मज़दूरों कह हालत के बारे में बस लम्बे-चौड़े लेख लिखते रहे और उनकी स्थानीय इकाइयों के लोग नेतृत्व हथियाने की आपसी होड़ा-होड़ी में लगे रहे। मगर मारुति की यूनियन के नेतृत्व ने भी न तो स्थिति की गम्भीरता को समझा और न ही संघर्ष को ढंग से लड़ने के महत्व को। हालाँकि आम मज़दूर बिगुल की बातों का समर्थन करते थे मगर पूरे आन्दोलन के दौरान सारे फ़ैसले नेतृत्व की एक छोटी-सी जमात के हाथों में केन्द्रित रहे और आम मज़दूरों की इसमें भागीदारी नहीं के बराबर होती थी। ज़्यादा प्रयास किये बिना ही दूसरे कारख़ानों के मजदूरों से उन्हें जैसा समर्थन बीच-बीच में मिलता रहा उसने साबित किया कि अगर ठीक से अपनी बात व्यापक मज़दूर आबादी तक पहुँचायी जाती तो इसे एक ज़बर्दस्त मजदूर सत्याग्रह का रूप दिया जा सकता था। मगर ऐसा नहीं हो सका।

केन्द्रीय यूनियनों के नेता तो बिगुल मज़दूर दस्ता की बातों से चिढ़े हुए थे और उसके विरुद्ध यूनियन नेतृत्व को भड़काने और कुत्साप्रचार का कोई मौक़ा नहीं छोड़ते थे। लेकिन क्रान्तिकारी वाम धारा के कई संगठन भी ख़ासे नाराज़ थे। ये लोग कुछ-कुछ उस तरह का आचरण कर रहे थे जिसके बारे में गाँव में कहावत है कि "सावन में सियार का जन्म हुआ और भादों में आयी बाढ़ को देखकर बोला कि बाप रे, ऐसी बाढ़ तो कभी देखी ही नहीं थी!" उन्हें इस आन्दोलन में कोई कमी ही नज़र नहीं आ रही थी और बिगुल की आलोचना और सुझाव आन्दोलन को कमज़ोर बनाने वाले लग रहे थे। आन्दोलन के बारे में लिखे एक लेख में इस बिरादरी के एक सज्जन तो यहाँ तक चले गये कि कह दिया कि बिगुल वाले मज़दूरों को अपने नेताओं के विरुद्ध भड़काने की कोशिश कर रहे थे। वैसे तो यह सरासर बकवास है (हमने जो किया उसकी पीछे चर्चा हो चुकी है) लेकिन अगर ऐसा होता भी तो बाद के घटनाक्रम ने साबित कर दिया कि जिस नेतृत्व को ये लोग आसमान पर चढ़ा रहे थे, वह कैसा साबित हुआ। पूरी की पूरी नेतृत्वकारी जमात लाखों रुपये लेकर कम्पनी ही छोड़ गयी।

बहरहाल, यहाँ हम इस मुद्दे से और मारुति के स्थायी मज़दूरों जैसे मज़दूरों के संस्तर के बारे में व्यापक परिप्रेक्ष्य में कुछ और बातें रखना चाहते हैं और कुछ समस्याओं को रेखांकित करना चाहते हैं। यह सही है कि होण्डा और मारुति जैसे उन्नत तकनोलॉजी वाले आधुनिक कारखानों के मज़दूरों को भी आज पूँजीवादी संकट की मार झेलनी पड़ रही है। उनकी सुविधाओं और अधिकारों की कटौती भी जारी है और इन सवालों पर यहाँ-वहाँ वे जुझारू ढंग से लड़ते भी हैं। लेकिन सच्चाई का दूसरा पहलू यह भी है कि उनके औद्योगिक क्षेत्र में और ख़ुद उन्हीं के कारख़ानों में जो दिहाड़ी, कैजुअल, ठेका और अप्रेण्टिस मज़दूर उनकी लगभग तिहाई-चौथाई पगार पर खटते हैं, उन्हें ये लोग अपने से काफ़ी नीचे मानते हैं। और एक मायने में इसका एक आर्थिक आधार भी है। इन कम्पनियों के स्थायी मज़दूर, तमाम शोषण के बावजूद, पगार और जीवन स्तर की दृष्टि से समाज के मध्यम-मध्य वर्ग और निम्न-मध्य वर्ग के स्तर का जीवन बिता लेते हैं। अपनी पिछड़ी वर्ग चेतना के चलते वे उजरती मज़दूरों की अन्य निम्नतर श्रेणियों की बहुसंख्यक आबादी, उनकी समस्याओं व संघर्षों से अपने को ऊपर समझते हैं और दूर रखते हैं। आज हालत यह है कि आधुनिक कारखानों में भी क्रमश: ज़्यादा से ज़्यादा काम दिहाड़ी, ठेका व पीस रेट पर हो रहे हैं। सभी मज़दूरों में इन "असंगठित" मज़दूरों का हिस्सा 93 प्रतिशत तक हो चुका है। मारुति जैसे कारख़ानों में काम करने वाले कैजुअल मज़दूरों में से तो ज़्यादातर शिक्षित युवा हैं जिनमें आई.टी.आई. के प्रशिक्षित भी शामिल हैं। इन्हें न तो अकुशल कहा जा सकता है, न ही पिछड़ी चेतना का। भारत के इन नये सर्वहाराओं के बीच बुर्जुआ और संशोधनवादी पार्टियों की जमी-जमायी ट्रेड यूनियन दुकानदारियों की पैठ नहीं के बराबर है। आज छँटनी, वेतन जाम और सुविधाओं की कटौती की मार इन बेहतर सुविधा प्राप्त मज़दूरों पर भी हो रही है। लेकिन जब यह अपने ऊपर हो रहे हमलों के ख़िलाफ़ लड़ता है तो उसके कारखाने के दिहाड़ी और ठेका मज़दूर तक उसकी लड़ाई से अलग-थलग रहते हैं। मारुति के आन्दोलन के दौरान स्थायी और कैजुअल मज़दूरों की एकता की बातें तो बहुत हुईं लेकिन ज़मीनी सच्चाई यही थी कि स्थायी मज़दूर कैजुअल मज़दूरों को अपने से दूर ही रखते थे जबकि कैजुअल मजदूरों ने भारी नुकसान उठाकर भी आन्दोलन में सबसे अधिक ज़िम्मेदारी से हिस्सेदारी की।

हमारा यह कहना नहीं है कि होण्डा, मारुति या सार्वजनिक क्षेत्र के कारखानों के स्थायी मज़दूरों में क्रान्तिकारी सम्भावना एकदम नहीं रह गयी है। लेकिन हम यह ज़रूर कहना चाहते हैं कि सापेक्षत: बेहतर जीवन स्थिति ने इनकी सर्वहारा चेतना में सबसे अधिक मध्यवर्गीय प्रदूषण पैदा किया है। बहुसंख्यक अस्थायी-दिहाड़ी-ठेका मज़दूरों से इन्होंने अपने को काट लिया है। इनके भीतर अर्थवाद का प्रभाव सर्वाधिक है और इस नाते परम्परागत ट्रेड यूनियनों का इनके बीच ही आधार है। यह सही है कि अपनी नौकरी और अधिकारों पर आये संकट के ख़िलाफ़ ये स्थायी मज़दूर यहाँ-वहाँ जुझारू लड़ाइयाँ लड़ रहे हैं और यह स्वाभाविक है। पर उनका यह जुझारूपन भी अर्थवाद की सीमाओं से आगे नहीं जाता। आर्थिक लड़ाई से आगे की बात या व्यापक आम मज़दूर आबादी के निचले संस्तरों से जुड़ने की बात वे नहीं सोचते और फिलहाल ऐसा प्रचार उन्हें बहुत रुचता भी नहीं। आने वाले दिनों में हालात मज़दूर आबादी के इस हिस्से को भी काफ़ी सबक़ ख़ुद ही सिखा देंगे। तब तक, नौकरी और हक़ों की हिफ़ाज़त के लिए उठ खड़े होने वाले संघर्षों को यथाशक्ति अपना सहयोग-समर्थन देना क्रान्तिकारी शक्तियों का कर्तव्य है, लेकिन हमें

(पेज 12 पर जारी)

...जो कोई भी मज़दूर आन्दोलन की स्वयंस्फूर्ति की पूजा करता है, जो कोई भी "सचेतन तत्व" की भूमिका को, सामाजिक-जनवाद (मज़दूर वर्ग की क्रान्तिकारी राजनीति – सं.) की भूमिका को कम करके आँकता है, वह चाहे ऐसा करना चाहता हो या न चाहता हो, पर असल में वह मज़दूरों पर बुर्जुआ विचारधारा के असर को मज़बूत करता है।

– लेनिन (क्या करें?)

पेरिस कम्यून : पहले मज़दूर राज की सचित्र कथा

आज भारत ही नहीं, पूरी दुनिया के मज़दूर पूँजी की लुटेरी ताक़त के तेज़ होते हमलों का सामना कर रहे हैं, और मज़दूर आन्दोलन बिखराब, ठहराव और हताशा का शिकार है। ऐसे में इतिहास के पन्ने पलटकर मज़दूर वर्ग के गौरवशाली संघर्षों से सीखने और उनसे प्रेरणा लेने की अहमियत बहुत बढ़ जाती है। आज से 141 वर्ष पहले, 18 मार्च 1871 को फ्रांस की राजधानी पेरिस में पहली बार मज़दूरों ने अपनी हुकूमत क़ायम की। इसे पेरिस कम्यून कहा गया। उन्होंने शोषकों की फैलायी इस सोच को ध्वस्त कर दिया कि मज़दूर राज-काज नहीं चला सकते। पेरिस के जाँबाज़ मज़दूरों ने न सिर्फ़ पूँजीवादी हुकूमत की चलती चक्की को उलटकर तोड़ डाला, बल्कि 72 दिनों के शासन के दौरान आने वाले दिनों का एक छोटा-सा मॉडल भी दुनिया के सामने पेश कर दिया कि समाजवादी समाज में भेदभाव, ग़ैर-बराबरी और शोषण को किस तरह ख़त्म किया जायेगा। आगे चलकर 1917 की रूसी मज़दूर क्रान्ति ने इसी कड़ी को आगे बढ़ाया।

मज़दूर वर्ग के इस साहसिक कारनामे से फ्रांस ही नहीं, सारी दुनिया के पूँजीपतियों के कलेजे काँप उठे। उन्होंने मज़दूरों के इस पहले राज्य का गला घोंट देने के लिए एड़ी-चोटी का ज़ोर लगा दिया और आख़िरकार मज़दूरों के कम्यून को उन्होंने ख़ून की नदियों में डुबो दिया। लेकिन कम्यून के सिद्धान्त अमर हो गये।

पेरिस कम्यून की हार से भी दुनिया के मज़दूर वर्ग ने बेशक़ीमती सबक़ सीखे। पेरिस के मज़दूरों की क़ुर्बानी मज़दूर वर्ग को याद दिलाती रहती है कि पूँजीवाद को मटियामेट किये बिना उसकी मुक्ति नहीं हो सकती।

'मज़दूर बिगुल' के इस अंक से हम दुनिया के पहले मज़दूर राज की सचित्र कथा की शुरुआत कर रहे हैं, जो अगले कई अंकों में जारी रहेगी। **– सम्पादक**

पूँजी की बर्बर ज़ालिम सत्ता के ख़िलाफ़ लड़ना कैसे सीखा मज़दूरों ने

1. अठारहवीं सदी के अन्त तक यूरोप में पूँजीपति वर्ग का ज़बर्दस्त विकास हो चुका था। लूट-खसोट के औपनिवेशिक युद्धों और मज़दूरों के भयानक शोषण से वह बेपनाह धन-दौलत बटोर रहा था। दूसरी ओर, मज़दूरों की हालत बहुत ही ख़राब थी और उनकी ज़िन्दगी अमानवीय कठिनाइयों से भरी हुई थी। उस समय तक मज़दूरों की संख्या में काफ़ी बढ़ोत्तरी हो चुकी थी लेकिन उन्हें अभी राजनीतिक संघर्ष का कोई अनुभव नहीं था और वे अब भी असंगठित थे। अपनी स्थिति और अपनी ऐतिहासिक भूमिका की चेतना भी उनमें बहुत कम थी। कारख़ानेदार मज़दूरों की बेबसी और सस्ते श्रम की बहुतायत का फ़ायदा उठाकर उनकी मेहनत को बुरी तरह निचोड़ डालते थे। मज़दूरों को रोज़ सोलह से अठारह घण्टे काम करना पड़ता था और स्त्रियों तथा बच्चों से भारी पैमाने पर काम कराया जाता था। मज़दूर भोर होते ही फैक्ट्री में चले जाते थे और देर रात बाहर निकलते थे। महीनों तक उन्हें धूप नहीं दिखायी देती थी। गन्दी और प्रदूषणभरी जगहों में बिना हिले-डुले एक ही स्थिति में कई-कई घण्टों तक बैठकर काम करने के कारण वे तमाम तरह की बीमारियों से ग्रस्त रहते थे और दुर्घटनाओं में मौत या शरीर का नाकाम हो जाना आम बात थी। अठारहवीं सदी के अन्त में इंग्लैण्ड में मज़दूरों की कुल मौतों में से 40 प्रतिशत टीबी की बीमारी से होती थीं। लगभग इसी समय के आसपास फ्रांस में मज़दूरों की औसत उम्र घटकर सिर्फ़ 35 वर्ष रह गयी थी। कमरतोड़ मेहनत, रिहाइश की नर्क जैसी स्थितियों, लगातार आधा पेट खाने और ग़रीबी के हालात ने उस समय मज़दूर वर्ग के भौतिक और आत्मिक विनाश का ख़तरा पैदा कर दिया था।

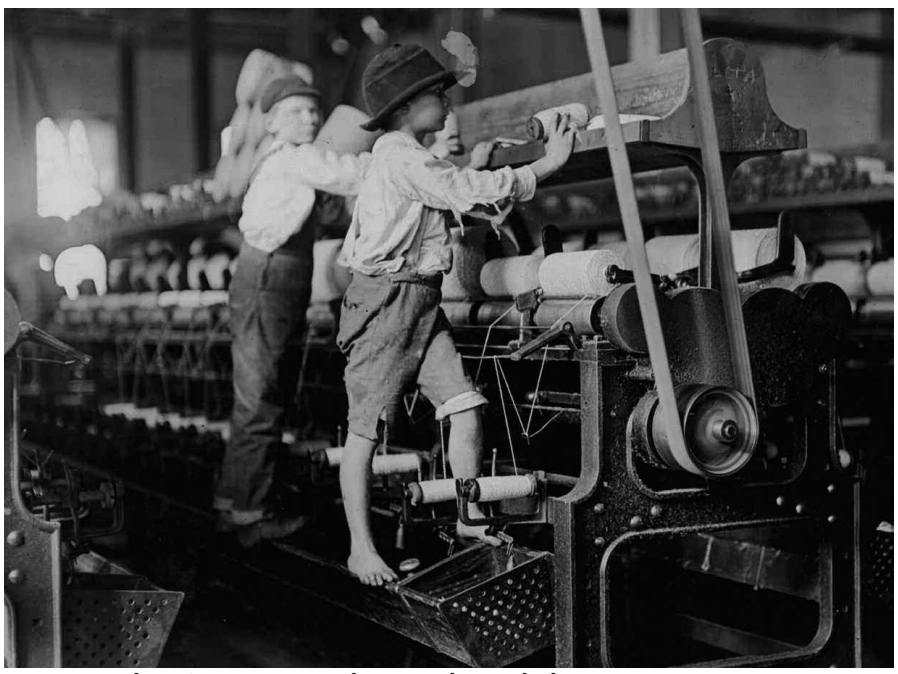

2. एक मिल में मशीन पर काम करते हुए बच्चे। बच्चों से हर तरह का काम कराया जाता था और 12-14 घण्टे काम के बदले उन्हें पुरुषों से आधी से भी कम मज़दूरी मिलती थी।

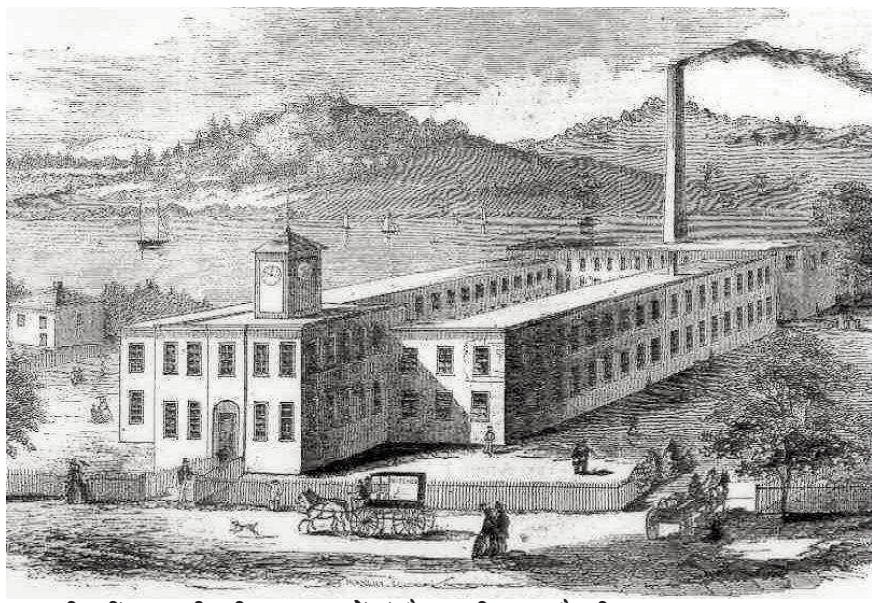

1. उन्नीसवीं शताब्दी की शुरुआत में इंग्लैण्ड की एक फ़ैक्ट्री

4. लन्दन की एक सड़क पर रात काटते बेघर मज़दूर

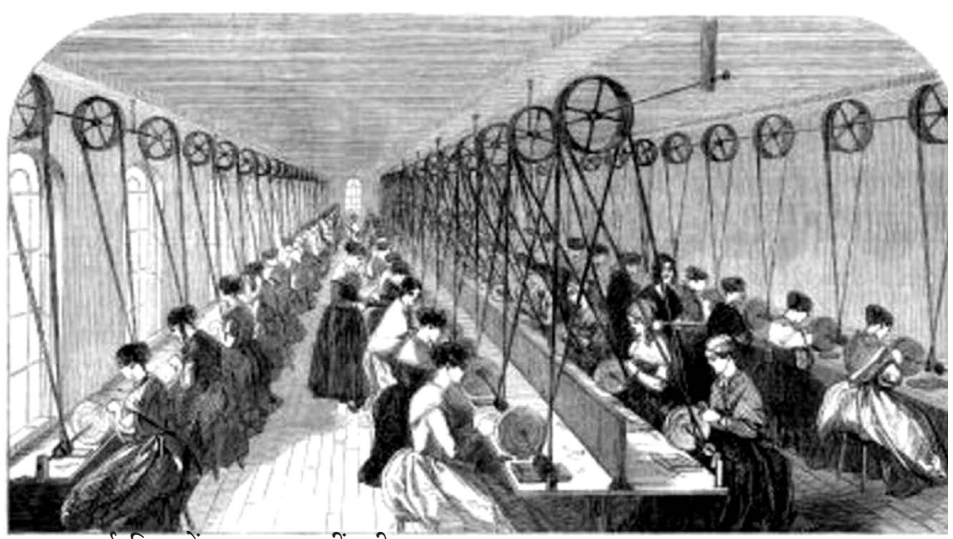

3. एक कताई मिल में काम कर रहीं स्त्री मज़दूर

टेक्सटाइल मिलों में काम करने वाले मज़दूरों में बड़ी संख्या में विकलांग हो जाते थे क्योंकि वे अन्धाधुन्ध रफ़्तार से चलती मशीनों के ग़ुलामों की तरह काम करते थे। अपनी प्रसिद्ध किताब 'इंग्लैण्ड में मज़दूर वर्ग की दशा' में फ्रेडरिक एंगेल्स लिखते हैं कि कपड़ा उद्योग के सबसे बड़े शहर मानचेस्टर की सड़कों पर थोड़ी दूर भी चलने पर कम से कम 3-4 ऐसे लोग मिल जाते थे जिनका कोई-न-कोई अंग टूटा या विकृत होता था। नमी, गर्मी और सड़ाँध भरी फ़ैक्ट्रियों में 14-16 घण्टे लगातार काम करने से मज़दूर कम उम्र में ही मौत के मुँह में समा जाते थे। एंगेल्स लिखते हैं, "जिन हालात में मज़दूर रहते और काम करते हैं उनके कारण जल्दी ही उनका शरीर जर्जर हो जाता है। उनमें से ज़्यादातर 40 का होते-होते काम करने लायक नहीं रह जाते, कुछ 45 तक काम करते रहते हैं, लेकिन 50 की उम्र तक लगभग कोई टिका नहीं रहता। बहुत से लोग शरीर के बिल्कुल कमज़ोर हो जाने के कारण बेकार हो जाते थे और बहुत से मज़दूर इसलिए निकाल दिये जाते थे क्योंकि सूत की तकलियों के पतले धागों पर घण्टों कम रोशनी में लगातार नज़र गड़ाये रहने के चलते उनकी आँखों की रोशनी चली जाती थी।" एंगेल्स ने यह किताब 1844 में लिखी थी, जब काफ़ी संघर्षों के बाद मज़दूरों की हालात में थोड़ा सुधार आया था। इसी से अन्दाज़ा लगाया जा सकता है कि उन्नीसवीं सदी के शुरू में उनकी स्थिति कैसी रही होगी।

2. आख़िरकार, खुद को बचाने के सहजबोध से मज़दूरों ने अपने मालिकों के ख़िलाफ़ लड़ना शुरू किया। लेकिन उन्नीसवीं सदी के शुरू में मज़दूरों में इस बात की चेतना नहीं थी कि उनकी तकलीफ़ों और मुसीबतों का ज़िम्मेदार कौन है। पहले उन्होंने यही समझा कि मशीनों के चलन के कारण ही उनकी हालत इतनी असहनीय हो गयी है। इंग्लैण्ड के बड़े औद्योगिक शहरों – नॉटिंघम, यार्कशायर और लंकाशायर में 1811 में मज़दूरों ने मशीनों को नष्ट करने का सुनियोजित अभियान छेड़ दिया। इन मण्डलियों का सरदार "जनरल लुड्ड" नाम का एक काल्पनिक चरित्र था। कहा जाता है कि उसका नाम नेड लुड्ड नाम के मज़दूर पर पड़ा था जिसने इस आन्दोलन की शुरुआत की थी। मज़दूरों के ये दस्ते कारख़ाना मालिकों के खिलाफ़ हिंसक कार्रवाइयाँ करते थे, कारख़ानों को आग लगा देते थे और मशीनों के छोटे-छोटे टुकड़े कर डालते थे। पुलिस उनसे निपटने में नाकाम हो गयी तो पूँजीपतियों की माँग पर सेना की टुकड़ियाँ भेजी गयीं। इसे कुचलने के लिए संसद ने बहुत सख़्त क़ानून बनाया जिसके तहत 17 मज़दूरों को फाँसी दे दी गयी और बहुतों को हज़ारों मील दूर, ऑस्ट्रेलिया भेज दिया गया। धीरे-धीरे मज़दूरों ने समझ लिया कि मशीनें उनकी तकलीफ़ों का स्रोत नहीं हैं और उनको नष्ट कर देने से उनकी ज़िन्दगी बेहतर नहीं हो जायेगी। हालाँकि काफ़ी बाद तक मशीनों पर अपना गुस्सा निकालने का सिलसिला छिटपुट रूप में चलता रहा। जैसा कि कार्ल मार्क्स ने लिखा है: "काफ़ी समय बीत जाने और काफ़ी अनुभव प्राप्त कर लेने के बाद मज़दूर मशीन और पूँजी द्वारा मशीन के उपयोग में भेद कर पाये और उन्होंने अपने प्रहार का निशाना उत्पादन के भौतिक औज़ारों को नहीं बल्कि उस विशिष्ट सामाजिक व्यवस्था को बनाना सीखा जो इन औज़ारों का उपयोग करती है।"

5. इंग्लैण्ड में एक कारख़ाने में मशीन को नष्ट कर रहे मज़दूर

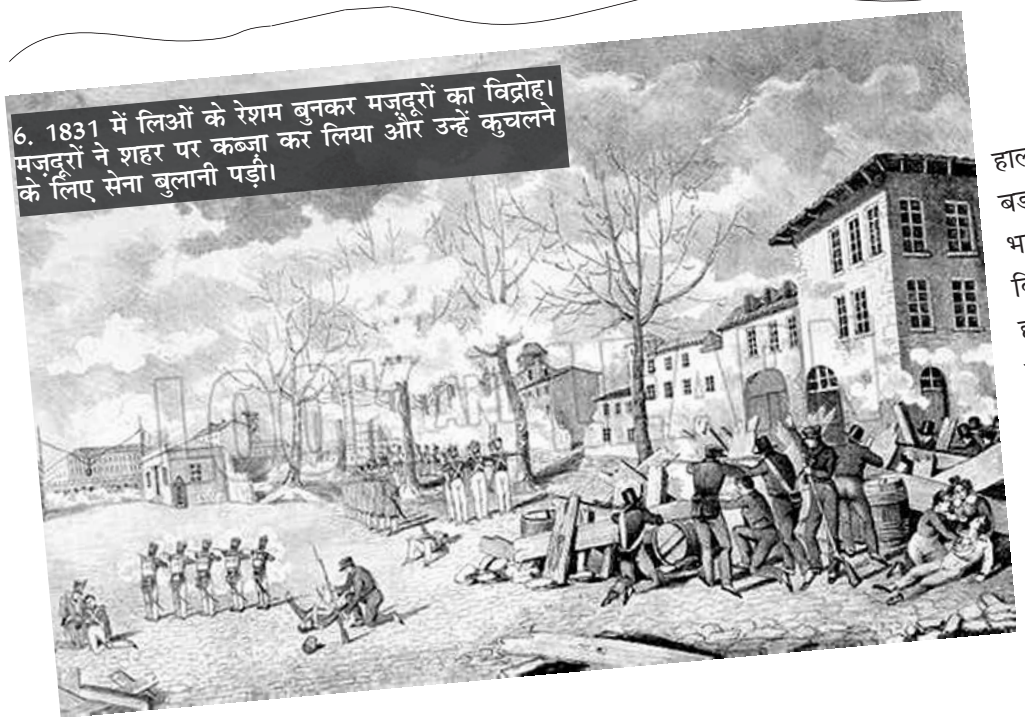

6. 1831 में लिओं के रेशम बुनकर मज़दूरों का विद्रोह। मज़दूरों ने शहर पर कब्ज़ा कर लिया और उन्हें कुचलने के लिए सेना बुलानी पड़ी।

3. यूरोप के दूसरे बड़े औद्योगिक देश, फ्रांस में भी मज़दूरों की हालत इंग्लैण्ड के मज़दूरों जैसी ही असहनीय थी। फ्रांस का दूसरा सबसे बड़ा शहर लिओं रेशम उद्योग का केन्द्र था। नवम्बर 1831 में अपनी भयंकर ग़रीबी से बेहाल बुनकर मज़दूरों ने मज़दूरी तय करने के सवाल पर विद्रोह कर दिया। हज़ारों मज़दूरों ने सेना के शस्त्रागार पर धावा बोलकर हथियार लूट लिये और फ़ौजी टुकड़ियों को पछाड़कर शहर को अपने कब्ज़े में ले लिया। उन्होंने काले बैनर लेकर जुलूस निकाला जिन पर लिखा था, "हम जीने और काम करने के अधिकार के वास्ते लड़ते-लड़ते मर जाने के लिए तैयार हैं!" राजधानी पेरिस से भेजी गयी 20,000 की सेना ने इस विद्रोह को निर्ममता के साथ कुचल दिया। लेकिन बग़ावत की आग अन्दर-अन्दर सुलगती रही। मज़दूरों की गुप्त सोसायटियों के बनने का सिलसिला शुरू हो गया जिनमें मज़दूर अपनी हालत के बारे में और उसे बदलने के लिए संघर्ष के बारे में चर्चा करते थे। सिर्फ़ तीन साल बाद, 1834 में, लिओं के बुनकर फिर विद्रोह में उठ खड़े हुए। फरवरी 1834 में, कारख़ाना मालिकों ने यह कहकर मज़दूरी घटाने की कोशिशें शुरू कर दीं कि अब मज़दूर पहले से बहुत ज़्यादा कमा रहे हैं और इससे उद्योग की बढ़ोत्तरी में रुकावट आ रही है।

इसके जवाब में, अप्रैल 1834 में मज़दूर फिर सड़कों पर उतर आये। जब उनका दमन करने की कोशिश की गयी तो उन्होंने फिर शस्त्रागार पर धावा बोलकर हथियार लूट लिये और सेना को शहर छोड़कर जाने पर मजबूर कर दिया। इस बार मज़दूर अधिक संगठित थे और उनकी माँगों में काम की बेहतर स्थितियों के साथ-साथ राजतंत्र को ख़त्म करके गणराज्य की स्थापना करने की माँग भी शामिल थी। फ्रांसीसी क्रान्ति के समय गठित राष्ट्रीय गार्ड की टुकड़ियों ने भी मज़दूरों का साथ दिया। पूरे शहर पर विद्रोहियों का कब्ज़ा हो गया। पेरिस से भेजी गयी सेना के साथ मज़दूरों की एक हफ़्ते तक लड़ाई चलती रही। तोपों से ज़बर्दस्त गोलाबारी करके और सैकड़ों मज़दूरों का क़त्लेआम करके आख़िरकार इस विद्रोह को भी कुचल दिया गया। 10,000 से ज़्यादा मज़दूरों को गिरफ़्तार करके पेरिस ले जाया गया जहाँ उन पर मुक़दमा चलाकर उन्हें कई-कई सालों की जेल या देशनिकाले की सज़ाएँ दी गयीं। इस विद्रोह ने यह दिखा दिया कि मज़दूर कितनी तेज़ी से राजनीतिक दृष्टि से जागरूक हो रहा था।

7. 1834 में लिओं के मज़दूरों की दूसरी बग़ावत को कुचलने के लिए सेना ने मज़दूरों का क़त्लेआम किया।

8. इंग्लैण्ड में खेतिहर मज़दूरों की एक यूनियन बनाने पर उसके 6 नेताओं जेम्स लवलेस, जॉन स्टैंडफील्ड, जेम्स ब्राइन, जेम्स हैमेट, जॉर्ज लवलेस, टॉमस स्टैंडफील्ड को 1834 में कड़ी सज़ाएँ सुनायी गयीं जिसका देशभर में ज़बर्दस्त विरोध हुआ। 8 लाख लोगों के हस्ताक्षर लेकर राजधानी लन्दन में एक विशाल जुलूस निकाला गया।

4. **शुरुआती दौर में** जब मज़दूरों ने अपनी माँगों के लिए हड़ताल करना शुरू किया तो उनके पास ऐसा कोई संगठन नहीं होता था जो हड़ताल के दौरान पैदा होने वाली एकजुटता को आगे भी क़ायम रख सके। मज़दूर वर्ग की सभी संस्थाएँ और संघ गैर-क़ानूनी माने जाते थे इसलिए मज़दूरों ने गुप्त सोसायटियाँ बनाना शुरू कर दिया। धीरे-धीरे इनकी संख्या और सक्रियता बढ़ती चली गयी। मज़दूरों के संघर्ष के कारण आख़िरकार इंग्लैण्ड की सरकार को 1824 में उन क़ानूनों को रद्द करना पड़ा जो संगठन बनाने को प्रतिबन्धित करते थे। इसके बाद जल्दी ही उद्योग की प्रत्येक शाखा में ट्रेड-यूनियनें बन गयीं जो बुर्जुआ वर्ग के अत्याचार और अन्याय से मज़दूरों को बचाने का काम करने लगीं। उनके उद्देश्य थे : सामूहिक समझौते से मज़दूरी तय कराना, मज़दूरी में यथासम्भव बढ़ोत्तरी कराना, कारखानों की प्रत्येक शाखा में मज़दूरी का समान स्तर क़ायम रखना। ऐसी कई यूनियनों ने मिलकर राष्ट्रीय स्तर पर मज़दूरों को एकजुट करने के प्रयास भी शुरू कर दिये। यूनियनों के संघर्ष के तरीके थे - हड़ताल, फिर हड़ताल तोड़ने वाले मज़दूरों का मुक़ाबला करना और यूनियन से बाहर रहने वाले मज़दूरों को शामिल होने के लिए राज़ी करना। यूनियनों की कार्रवाइयों से मज़दूरों की चेतना और संगठनबद्धता बहुत तेज़ी से बढ़ने लगी।

5. **हड़तालों की घोषणा,** ट्रेड यूनियनों का गठन, यूनियनों का पहले क्षेत्रीय संगठनों और बाद में राष्ट्रीय संगठनों के रूप में एक होना, और उसके बाद कई यूनियनों को मिलाकर अस्थायी संघ बनाने की कोशिश करने का काम मेहनतकशों के राजनीतिक संघर्ष के साथ-साथ चलता रहा और इसने 1836-37 के आर्थिक संकट के बाद गम्भीर हलचल का रूप धारण कर लिया। 1837 में मज़दूरों के नेताओं ने एक माँगपत्रक – चार्टर – तैयार किया जिसमें वे माँगें थीं जिन्हें संसद के सामने पेश किया जाना था। इसके बाद उन्होंने इस चार्टर पर मज़दूरों के हस्ताक्षर जुटाने शुरू किये। तीन बार – 1839, 1842 और 1848 में – यह चार्टर संसद को सौंपा गया और हर बार उस पर पहले से भी ज़्यादा हस्ताक्षर थे। पहली बार 12 लाख हस्ताक्षर जुटाये गये, दूसरी बार 33 लाख और तीसरी बार लगभग 50 लाख। इन माँगों के समर्थन में आन्दोलन करने के लिए नेशनल चार्टिस्ट एसोसिएशन की स्थापना की गयी थी। इस संगठन का मक़सद कारीगरों और मेहनतकश वर्गों की माँगों को उठाना था और इसे मज़दूरों की पहली राजनीतिक पार्टी कहा जा सकता है।

हस्ताक्षर जुटाने और माँगपत्रक से जुड़े राजनीतिक और सामाजिक सवालों पर चलने वाली बहसों के कारण मज़दूर आन्दोलन का ज़बर्दस्त विकास हुआ। मज़दूर और उनके परिवार शाम के वक़्त मशालों की रोशनी में जमा होकर राजनीतिक भाषण सुनते थे और हालात पर बहस करते थे। रात के समय ब्रिटेन के शहरों की सड़कों पर चार्टिस्टों के विशाल जुलूस निकला करते थे। मज़दूरों ने पहली बार महसूस किया कि जब वे मिलकर और संगठित तरीके से कुछ करते हैं तो उनकी शक्ति कितनी ज़बर्दस्त बन जाती है। जैसे-जैसे चार्टिस्ट आन्दोलन आगे बढ़ा, मज़दूर अपनी सफलताओं और असफलताओं से शिक्षा लेते हुए अपने आसपास की दुनिया की बेहतर समझ हासिल करते गये और बहुत से भ्रमों से भी मुक्त होते गये। लेकिन चार्टिस्ट नेता अभी मज़दूर वर्ग की ऐतिहासिक भूमिका और संगठनबद्ध होने की ज़रूरत को सही ढंग से नहीं समझ पाये थे। चार्टिस्ट आन्दोलन अपने प्रभाव का पूरा उपयोग कर पाने में नाकाम रहा और 1848 के बाद उतार

9. चार्टिस्ट आन्दोलन के दौरान मज़दूरों की एक सभा में बोलते हुए मज़दूरों के नेता फियरगेस ओ'कॉनर

पर आने लगा। लेकिन यह इतिहास में सर्वहारा का पहला व्यापक राजनीतिक आन्दोलन था और वह प्रेरणादायी उदाहरण बन गया। चार्टिस्ट आन्दोलन के बाद मज़दूर वर्ग के मुक्ति-संघर्ष ने एक नयी और अधिक उन्नत मंज़िल में प्रवेश किया। **(अगले अंक में जारी)**

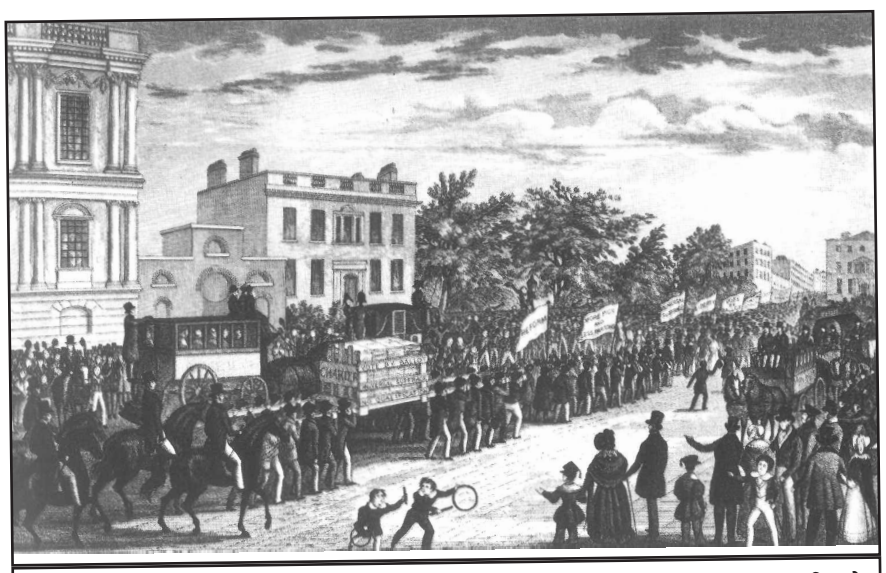

10. लन्दन में मज़दूरों के चार्टर (माँगपत्रक) पर लाखों हस्ताक्षर लेकर संसद की ओर बढ़ रहा मज़दूरों का विशाल जुलूस। जिस विशाल पेटी में हस्ताक्षरों के कागज़ों को रखा गया था उसे बीस लोगों ने कन्धे पर उठा रखा है।

11. नॉटिंघम शहर में 1842 में पुलिस के हमले का मुक़ाबला करते हुए चार्टिस्ट मज़दूर

महज़ पूँजीवाद-विरोध पर्याप्त नहीं है! हमें पूँजीवाद का विकल्प पेश करना होगा!

अभिनव

पिछला वर्ष पूँजीवाद के लिए अच्छा नहीं बीता है। पिछले 5 वर्षों से जारी आर्थिक संकट के भँवर में विश्व पूँजीवादी व्यवस्था लगातार गहरी फँसती जा रही है। अमेरिका और यूरोपीय संघ का पूँजीपति वर्ग बीच-बीच में संकट से उबरने के दावे करता रहता है। लेकिन इन दावों के बावजूद पूँजीवाद का संकट टलने का नाम नहीं ले रहा है। वास्तव में, पिछले तीस-चालीस साल में पूँजीवाद की आर्थिक सेहत कभी अच्छी नहीं रही है। यह लगातार एक मन्द मन्दी से जूझता रहा है। बीच-बीच में यह मन्द मन्दी भयंकर संकटों के रूप में उपस्थित होती रही है। 1997, 2001, 2005, 2007 और फिर 2010! पहले पूँजीवाद के संकट दो-तीन दशकों पर आते थे; फिर यह दशक भर में आने लगे; और अब पूँजीवाद सतत् संकटग्रस्त ही रहता है। बार-बार, लगातार उपस्थित हो रहे ये संकट साफ़ तौर पर दिखला रहे हैं कि पूरी पूँजीवादी व्यवस्था पहले से कहीं ज़्यादा कमज़ोर और खोखली हो चुकी है। पूँजीवाद के टुकड़ों पर पलने वाले अख़बारी कलमघसीट बुद्धिजीवी और अर्थशास्त्री लगातार हमें यह यक़ीन दिलाने की कोशिशों में पसीना बहाते रहते हैं कि पूँजीवाद ही मानवता के लिए सर्वश्रेष्ठ व्यवस्था है और इसका कोई विकल्प नहीं है। 1990 में रूस में समाजवाद के नक़ली झण्डे के गिरने पर इन लोगों ने समाजवाद की अन्तिम पराजय का काफ़ी शोर मचाया था। उसी समय से ये बुद्धिजीवी और पूँजीवादी राजनीतिज्ञ और चिन्तक यह दावे करते रहे हैं कि पूँजीवाद को चुनौती देने वाली अब कोई ताक़त नहीं बची है और मनुष्यता का अन्तिम पड़ाव पूँजीवाद ही है। लेकिन इन संकटों ने ऐसे दावे करने वाले तमाम कलमघसीटों के मुँह पर बार-बार करारा तमाचा लगाया है। पूँजीवाद न सिर्फ़ आर्थिक संकट के भँवर में अन्तिम तौर पर फँस गया है, बल्कि अब यह संकट राजनीतिक और सामाजिक संकट के रूप में भी सामने आ रहा है।

पूँजीपति वर्ग अपने "अति-उत्पादन" के संकट का बोझ हमेशा मज़दूर वर्ग पर डालता है। इस बार भी वह ऐसा ही कर रहा है। "अति-उत्पादन" के संकट, वित्तीय पूँजी के प्रचुरता के संकट और उसके बाद बैंकों को बचाने के लिए अरबों-ख़रबों की मात्रा में जनता के धन को उड़ा देने के कारण पैदा हुई मुद्रा की कमी से निपटने के लिए पूँजीवादी सरकारें पश्चिमी देशों में, ख़ास तौर पर, अमेरिका और यूरोप के देशों में, जनता के शिक्षा, स्वास्थ्य और रोज़गार पर होने वाले ख़र्च में कटौती कर रही हैं। इसके कारण आम ग़रीब मेहनतकश जनता को शिक्षा और स्वास्थ्य आदि की जो सुविधाएँ सहज उपलब्ध थीं, वे उनसे छीनीं जा रही हैं। मज़दूरों के लिए अपने बच्चों को शिक्षा दिला पाना, उनके रोज़गार का इन्तज़ाम कर पाना और दवा-इलाज़ करा पाना तक मुश्किल हो रहा है। इसके ख़िलाफ़ अमेरिका से लेकर यूरोप तक मज़दूर वर्ग और आम मध्य वर्ग की आबादी सड़कों पर उतर रही है और बैंकों और वित्तीय पूँजी की मुख़ालफ़त कर रही है। पश्चिमी पूँजीवादी देशों में जन्मा संकट एशिया और अफ़्रीका के पिछड़े पूँजीवादी देशों में अभी अपने आपको पूरी तरह अभिव्यक्त नहीं कर रहा है। लेकिन जल्द ही ये साम्राज्यवादी देश अपने संकट का बोझ एशिया और अफ़्रीका के पिछड़े पूँजीवादी देशों की ग़रीब मेहनतकश जनता पर डालेंगे। उस सूरत में यहाँ भी मज़दूरों का शोषण और ज़्यादा सघन और व्यापक बनाया जायेगा। यहाँ भी बड़े पैमाने पर छँटनी, तालाबन्दी और बेरोज़गारी बढ़ेगी। देर-सबेर यह संकट, जो आज पूँजीवादी विश्व के स्वर्ग के तलघर में हाहाकार मचा रहा है, एशिया और अफ़्रीका के पिछड़े पूँजीवादी देशों की आम ग़रीब आबादी पर कहर बनकर टूटेगा। ऐसे में, इन देशों में विस्फोटक सामाजिक-आर्थिक परिस्थितियाँ पैदा होंगी। और पूँजीवाद के चिन्तक, विचारक और राजनीतिक चौधरी इसके बारे में कुछ नहीं कर सकते। मुनाफ़ा-केन्द्रित व्यवस्था का यह संकट इस व्यवस्था के साथ ही क़ब्र में जायेगा।

लेकिन सवाल यह है कि आज जो पूँजीवाद-विरोध अमेरिका और यूरोपीय देशों की सड़कों पर जनता कर रही है, उसमें किसी क्रान्तिकारी परिवर्तन तक पहुँच पाने की क्षमता है या नहीं? यहाँ पर हम एक समस्या का सामना करते हैं। यह सच है कि आज पूँजीवाद अपने असमाधेय और अन्तकारी संकट से घिरा हुआ है। लेकिन यह भी सच है कि इस संकट के कारण पूँजीवादी व्यवस्था अपने आप धूल में नहीं मिल जायेगी। इस संकट ने उसे जर्जर और कमज़ोर बना दिया है। लेकिन अगर मज़दूर वर्ग के नेतृत्व में एक संगठित प्रतिरोध मौजूद नहीं होगा, तो पूँजीवादी व्यवस्था जड़ता की ताक़त से टिकी रहेगी। ठीक उसी तरह जैसे अगर कोई बूढ़ा-बीमार आदमी भी कुर्सी को कसकर जकड़ कर बैठ जाये तो उसे वहाँ से हटाने के लिए संगठित बल प्रयोग की ज़रूरत पड़ेगी। आज यही संगठित शक्ति ग़ायब दिखती है।

अमेरिका में 'वॉल स्ट्रीट पर कब्ज़ा करो' आन्दोलन के दौरान जनता के अलग-अलग हिस्से अपनी-अपनी माँगों और शिकायतों को लेकर सड़कों पर उतरे। उन्होंने जगह-जगह कब्ज़े किये भी और वहाँ अपना कैम्प डालकर सामुदायिक रसोई आदि चलायी। लेकिन यह पूरा विरोध संगठित तौर पर और सोचे-समझे लक्ष्य को ध्यान में रखकर नहीं किया जा रहा था। लोग बेरोज़गारी, बेघरी और ग़रीबी से तंग आकर सड़कों पर उतर आये थे। आज तक अपनी साम्राज्यवादी लूट के बूते पर अमेरिका ने अपने देश के मज़दूर वर्ग और आम निम्न मध्यवर्ग को भी शिक्षा, स्वास्थ्य, बेरोज़गारी भत्ता आदि जैसी कुछ सुविधाएँ दी थीं। लेकिन अभूतपूर्व संकट के इस दौर में इन सुविधाओं को जारी रख पाना अमेरिकी पूँजीपति वर्ग के लिए सम्भव नहीं रह गया था। जब कई दशकों तक इन सुविधाओं के साथ जीने वाले मज़दूर वर्ग को इन सुविधाओं से वंचित किया गया तो उसका सड़कों पर स्वत:स्फूर्त ढंग से उतर पड़ना लाज़िमी था। साथ ही अमेरिकी के निम्न मध्यवर्ग के लिए भी यह एक अभूतपूर्व बात थी कि उसे स्वास्थ्य बीमा, शिक्षा सुविधाओं आदि से वंचित कर दिया जाये। वह भी अपनी समस्याओं को लेकर इन प्रदर्शनों में शामिल हो गया। साथ ही, अमेरिकी बैंकों और वित्तीय संस्थानों के प्रति भी अमेरिकी जनता में सबप्राइम संकट और आवास संकट के समय से ही एक गुस्सा पनप रहा था, जो कि सरकार द्वारा बैंकों को बेलआउट पैकजों के दिये जाने के साथ भड़क उठा। अलग-अलग निम्न वर्गों के असन्तोषों के स्वत:स्फूर्त तरीक़े से एक ही मौक़े पर फूट पड़ने के साथ ही यह आन्दोलन शुरू हुआ। ज़्यादातर मौक़ों पर यह आन्दोलन पूरी पूँजीवादी व्यवस्था को दीवालिया बताता है, लेकिन अन्त में वह इस पूरी व्यवस्था को एक संगठित प्रयास से उखाड़ फेंकने का आह्वान नहीं करता! अन्त में वह एक माँग करता है, और वह भी उसी पूँजीवादी व्यवस्था से! और वह माँग क्या है? वह माँग है वित्तीय पूँजी की तानाशाही को ख़त्म करके "कल्याणकारी" पूँजीवादी राज्य की ओर वापस लौटना! यह पूँजी की ही तानाशाही को ख़त्म कर एक समाजवादी व्यवस्था स्थापित करने का आह्वान नहीं करता। इस तरह से इस आन्दोलन की अव्यक्त चाहत है एक बेहतर मानवोन्मुख कल्याणकारी सन्त पूँजीवाद की, न कि पूँजीवाद के विकल्प की, चाहे यह समाजवादी या क्रान्तिकारी जुमलेबाज़ी कितनी भी करे। यह आन्दोलन वास्तव में अमेरिका के भूतपूर्व केनेडीकालीन "कल्याणकारी" नीतियों के नॉस्टैल्जिया से संचालित है। ज़ाहिर है कि इसके पीछे कोई क्रान्तिकारी विचारधारा और क्रान्तिकारी पार्टी नहीं है। इस आन्दोलन में जो अराजकतावादी, पार्टी और नेतृत्व का विरोध करने वाली ताक़तें मौजूद थीं, वे इस कमी को पूरा करने की बजाय इसका जश्न मना रही थीं। वे जनता के बीच समाजवाद और मज़दूर सत्ता का विकल्प पेश करने की बजाय रूस और चीन में समाजवाद के प्रयोगों की असफलता का हवाला देकर इस बात का प्रचार कर रही थीं कि नेतृत्व और संगठन का मौजूद न होना एक अच्छी बात है! नतीजतन, विचारधारा और संगठन के अभाव में कुछ समय में ही यह आन्दोलन बिखर गया। समाजवाद के पहले के प्रयोगों के सकारात्मक-नकारात्मक का नीर-क्षीर-विवेक करके समाजवाद और मज़दूर वर्ग की सत्ता के और उन्नत प्रयोगों की ओर आगे बढ़ने की बजाय इस आन्दोलन में जो कुछ समूह सक्रिय थे, वे समाजवाद और पूँजीवाद दोनों की मुख़ालफ़त करने का दावा कर रहे थे! लेकिन वे खुद कौन-सा विकल्प दे रहे थे, यह अन्त तक एक गोपनीय बात बनी रही! जनता अपने गुस्से से लगातार इस आन्दोलन में सक्रिय रही। लेकिन किसी विकल्प, नेतृत्व और संगठन की अभाव में अन्त में वह एक अन्धी गली में पहुँच गयी, जिसके आगे का रास्ता किसी को नहीं मालूम था। अन्तत: स्वत:स्फूर्तता का ईंधन समाप्त हो गया और आन्दोलन बिखर गया।

स्पष्ट है कि पूँजीवादी व्यवस्था का विकल्प देने का काम सिर्फ़ एक विचारधारा ने किया है – मज़दूर वर्ग की विचारधारा, यानी मार्क्सवाद-लेनिनवाद-माओवाद ने। यह क्रान्ति का विज्ञान है। हर विज्ञान की तरह यह विज्ञान भी अपना निषेध करते हुए उन्नत होता है। यानी अपने प्रयोगों की ग़लतियों, कमियों और ख़ामियों को दूर करते हुए ही मार्क्सवादी विचारधारा उन्नत होती है। आज अगर पूँजीवाद का एक कारगर विकल्प पेश करना है, तो अराजकतावादी और सर्वखण्डनवादी रुख़ को छोड़कर मज़दूर वर्ग को उसकी विचारधारा की रोशनी में गोलबन्द और संगठित करना होगा। मज़दूर वर्ग पूँजीवादी समाज का सबसे विशाल, सबसे क्रान्तिकारी वर्ग है। यही वह वर्ग है जो सामाजिक तौर पर समूचा उत्पादन करता है। आज जो संकट पूँजीवादी व्यवस्था को डाँवाडोल किये हुए है, उसका कारण यही है कि उत्पादन तो पूरा मज़दूर वर्ग सामाजिक तौर पर करता है, लेकिन उसके फल को कुछ निजी मालिक व्यक्तिगत तौर पर हड़प जाते हैं। यह संकट केवल एक तरह से हल हो सकता है – एक ऐसी व्यवस्था के निर्माण के जरिये जिसमें उत्पादन भी सामाजिक हो और उसका मालिकाना और वितरण भी सामाजिक, यानी, एक समाजवादी व्यवस्था के निर्माण के जरिये। ऐसी व्यवस्था खड़ी करने का काम महज़ बैंकों का विरोध करने और कल्याणकारी राज्य की वापसी की माँग करने, और महज़ स्वत:स्फूर्त प्रतिरोध आन्दोलनों के जरिये नहीं हो सकता है; ऐसी व्यवस्था निर्मित करने का काम महज़ मौजूदा पूँजीवादी ढाँचे में कुछ सुधार और बेहतरी की माँग करने से नहीं हो सकता है। ऐसी व्यवस्था तभी खड़ी की जा सकती है जब पूरी की पूरी पूँजीवादी व्यवस्था का विकल्प पेश किया जाये, मज़दूर वर्ग की विचारधारा और उसके संगठन के जरिये इस विकल्प को क्रान्तिकारी रास्ते से लागू किया जाये।

आज दुनिया भर में जो पूँजीवाद-विरोधी आन्दोलन हो रहे हैं उनकी कुछ गम्भीर कमियाँ उन्हें कोई विकल्प नहीं पेश करने देंगी। ये आन्दोलन स्वत:स्फूर्त आन्दोलन हैं, मज़दूर वर्ग के नेतृत्व में चल रहे सचेतन जनसंघर्ष नहीं। इन आन्दोलनों का कोई सांगठनिक ढाँचा, सदस्यता ढाँचा आदि नहीं है। इनकी कोई अभिव्यक्त विचारधारा नहीं है, और अराजकतावाद का प्रभाव इन पर सबसे ज़्यादा है। इन आन्दोलनों का कोई अभिव्यक्त विकल्प नहीं है; जो विकल्प इनके नारों से झलकता है वह भूमण्डलीकरण के दौर के नवउदारवादी वित्तीय इज़ारेदारी वाले पूँजीवादी कारपोरेट राज्य से "कल्याणकारी" राज्य की ओर वापस जाने का विकल्प है, जो कि अब असम्भव है। वे पूँजीवाद के विकल्प की गाहे-बगाहे बात भर करते हैं, लेकिन कोई विकल्प देते नहीं। इन आन्दोलनों का कोई नेतृत्व नहीं है और ये पूरी तरह स्वत:स्फूर्तता पर टिके हुए हैं। यही कारण है कि अधिकांश जगहों पर अब ये आन्दोलन बिखराव का शिकार हैं।

यह सच है कि इन स्वत:स्फूर्त आन्दोलनों के फूटने की परिघटना ने पूँजीवाद के अजरता-अमरता के दावों का एक बार फिर से मख़ौल बना दिया है। लेकिन आज पहले से ख़ारिज दावों को फिर ख़ारिज करने का वक़्त नहीं है। आज मज़दूर वर्ग को उसके हिरावल के नेतृत्व में राजनीति तौर पर गोलबन्द और संगठित करने का समय है। कोई भी प्रयास जो इस पैमाने पर खरा नहीं उतरता वह ज़रूरत से कम ही होगा। मौजूदा आन्दोलन भी पूँजीवाद के स्वत:स्फूर्त विरोध पर जाकर ख़त्म हो जाते हैं। बदहाली से तंग जनता बिलबिलाकर सड़कों पर उतर आयी है। लेकिन जनता के गुस्से के इस विस्फोट को एक रचनात्मक क्रान्तिकारी दिशा देने का काम कोई क्रान्तिकारी पार्टी ही कर सकती है। हमारे देश में भी आने वाले समय में विस्फोट होने वाले हैं, और इससे भी भयंकर विस्फोट। कल भारत का मज़दूर वर्ग ऐसे किसी भी जनविस्फोट को एक सही दिशा दे सके, इसके लिए ज़रूरी है कि पहले वह स्वयं को एक सच्ची क्रान्तिकारी कम्युनिस्ट पार्टी के तहत संगठित करे। आज ऐसी कोई अखिल

(पेज 12 पर जारी)

आतंकवाद बहाना है, जनसंघर्ष ही निशाना है!

(पेज 1 से आगे)

बाद भी सरकारें इसका इस्तेमाल मुख्यत: सत्ता-विरोधी गतिविधियों पर नज़र रखने और सबसे बढ़कर क्रान्तिकारी आन्दोलनों के ख़िलाफ़ करती रही हैं। लेकिन अब तक इसे तलाशी-छापेमारी और गिरफ़्तारी के अधिकार नहीं मिले हुए थे। आने वाले दिनों की आहट पहचानकर अब शासक वर्ग अपने इस जासूसी कुत्ते को अपने ख़िलाफ़ आवाज़ उठाने वालों पर झपटने और दबोचने के लिए भी तैयार कर रहे हैं।

भारत में रॉ, आईबी, एनआईए, सीबीआई, डीआईए, जेसीआई, एनटीआरओ सहित एक दर्जन से अधिक केन्द्रीय खुफ़िया एजेंसियाँ हैं, हर राज्य में अलग खुफ़िया विभाग और स्पेशल पुलिस, आतंकवाद-विरोधी दस्ते (एटीएस) और अत्याधुनिक उपकरणों से लैस भारी-भरकम तंत्र मौजूद है। फिर आख़िर एक और एजेंसी के गठन के लिए सरकार इतनी बेसब्र क्यों है। दरअसल, शासक वर्ग अच्छी तरह से जानते हैं कि उदारीकरण-निजीकरण की जो नीतियाँ अन्धाधुन्ध तरीक़े से लागू की जा रही हैं, उनसे देशभर में बढ़ता असन्तोष आने वाले वर्षों में जनता के प्रचण्ड उभार के रूप में फूटेगा। इसी से निपटने के लिए वे पहले से ही पूरी तैयारी कर रहे हैं। बेशक, आतंकवादी संगठनों की कार्रवाइयों से उन्हें इसके लिए माहौल बनाने में मदद ही मिल रही है। भारत सरकार को दुनिया के दूसरे देशों की खुफ़िया एजेंसियों से भी इस काम में पूरी मदद मिल रही है। इज़रायल की कुख्यात खुफ़िया एजेंसी मोस्साद और अमेरिका एजेंसियाँ सीआईए और एफ़बीआई दमन के हथकण्डों में माहिर बनाने के लिए भारतीय एजेंसियों को प्रशिक्षण, साफ़्टवेयर और अरबों डालर के उपकरण मुहैया करा रही हैं। जुलाई 2010 में प्रधानमंत्री मनमोहन सिंह व अमेरिकी राष्ट्रपति ओबामा ने आतंकवाद विरोधी सहयोग पहल पर दस्तखत किये थे। इसके बाद से अमेरिका का आतंकवाद विरोधी सहायता ब्यूरो भारतीय अफसरों के लिए 79 पुलिस प्रशिक्षण कोर्स आयोजित कर चुका है।

उदारीकरण-निजीकरण के वर्तमान दौर में, 93 फ़ीसदी कामगार आबादी "अनौपचारिक क्षेत्र" में काम करती है, और इसमें से भी 58 फ़ीसदी कृषि एवं सम्बद्ध क्षेत्र में काम करती है। इन मज़दूरों को किसी भी किस्म की रोज़गार-सुरक्षा या सामाजिक सुरक्षा हासिल नहीं है। ये दिहाड़ी, या ठेका पर काम करने वाले मज़दूर हैं, जो 12-14 घण्टे तक खटकर 70-80 रुपये रोज़ाना कमा पाते हैं। इस स्थिति से पैदा होने वाले जनाक्रोश पर ठण्डे पानी के छींटे मारने के लिए आज सरकार 'नरेगा' जैसी योजना और सामाजिक सुरक्षा की कुछ स्कीमें लागू कर रही है तो भ्रष्ट नौकरशाही-नेताशाही और सामाजिक दबंगों के गठजोड़ के चलते उनका लाभ आम लोगों तक बहुत कम ही पहुँच पाता है और इससे स्थिति और अधिक विस्फोटक होती जा रही है। परम्परागत ट्रेडयूनियनें मज़दूरों के हितों की हिफ़ाज़त में बिल्कुल नाकाम साबित हुई हैं। श्रम क़ानूनों और श्रम विभाग का कोई मतलब ही नहीं रह गया है। गाँवों में पूँजी की पैठ ने छोटे और सीमान्त किसानों को उनकी जगह-ज़मीन से उजाड़ तो दिया है, लेकिन भारी बेरोज़गारी के कारण उनका मज़दूरों की क़तार में शामिल होकर गुज़र-बसर करना भी कठिन होता गया है। क़र्ज़ की मार से तबाह किसानों में छोटे-मँझोले किसानों की तादाद ही सर्वाधिक रही है। 1997 से 2010 के बीच 2 लाख से अधिक किसान कर्ज़ के कारण आत्महत्या कर चुके हैं। इससे ग्रामीण समाज के ताने-बाने में बढ़ते तनाव का बस अनुमान लगाया जा सकता है।

इन थोड़े से आँकड़ों से ही समझा जा सकता है कि इस व्यवस्था के ख़िलाफ़ जनसमुदाय में गुस्सा कितनी तेज़ी से बढ़ रहा है। रही-सही कोर-कसर भारतीय संसदीय जनवाद का बेहद महँगा एवं परजीवी चरित्र और सिर से पाँव तक भ्रष्टाचार में डूबी नेताशाही-नौकरशाही पूरा कर देती है। लेकिन फ़िलहाल कोई क्रान्तिकारी विकल्प जनता के सामने प्रभावी रूप में मौजूद नहीं है, इसलिए जनता के स्वत:स्फूर्त संघर्षों के साथ "वामपन्थी" उग्रवाद और अन्य विविध रूपों में आतंकवाद का विस्फोट स्वाभाविक है। साथ ही, लोगों से यदि विरोध के अन्य विकल्पों-रास्तों को छीन लिया जायेगा, या उन्हें निष्प्रभावी बना दिया जायेगा, तो आबादी का एक हिस्सा एक वैकल्पिक व्यवस्था बनाने की सांगोपांग तैयार के बिना भी, दमनकारी सत्ता के विरुद्ध हथियार उठा सकता है। ज़ाहिर है कि शासक वर्ग की आर्थिक नीतियों के नतीजे नंगे रूप में सामने आने के बाद सामाजिक विस्फोट की जो ज़मीन तैयार हो रही है, उसके भविष्य को भाँपते हुए शासक वर्ग अपने दमनतन्त्र को चाक-चौबन्द करने में लग गया है। इसीलिए हमारा कहना है कि 'आतंकवाद तो बहाना है, जनसंघर्ष ही निशाना है।' इतिहास ने बार-बार साबित किया है कि आतंकवाद, अपने हर रूप में, पूँजीवादी अन्याय-अत्याचार और राज्य मशीनरी के दमनतन्त्र की प्रतिक्रिया में होता है। उसे दमन के द्वारा समाप्त नहीं किया जा सकता।

भारत के पूर्व राष्ट्रपति वेंकटरमन ने भी एक बार यह स्वीकार किया था कि नवउदारवादी नीतियों को प्रभावी ढंग से अमल में लाने के लिए एक तानाशाही शासन तन्त्र ज़रूरी होगा। यह आश्चर्य की बात नहीं कि नवउदारवादी नीतियों के वर्तमान दौर में न केवल फ़ासीवादी प्रवृत्तियाँ पूरी दुनिया में विविध रूपों में सामने आ रही हैं, बल्कि पूँजीवादी जनवाद और फ़ासीवाद के बीच की विभाजक रेखाएँ भी धुँधली पड़ती जा रही हैं। भारत में भी पूँजीवादी जनवाद का 'स्पेस' लगातार सिकुड़ता जा रहा है और क़ानून-व्यवस्था बनाये रखने के नाम पर पुलिस प्रशासन की भूमिका बढ़ती जा रही है। नवउदारवादी नीतियों को अमल में लाने की प्रक्रिया में छँटनी-बेरोज़गारी, श्रम क़ानूनों की निष्प्रभाविता, दिहाड़ीकरण-ठेकाकरण, 12-14 घण्टे तक के कार्यदिवस, सिंगल रेट ओवरटाइम, हर प्रकार की रोज़गार-सुरक्षा और सामाजिक सुरक्षा के अभाव आदि के चलते मज़दूरों में जो असन्तोष पैदा होगा, बेरोज़गारी और महँगी शिक्षा के कारण छात्रों-युवाओं में जो रोष पैदा होगा तथा विस्थापन एवं कंगालीकरण से ग्रामीण जीवन में जो भारी उथल-पुथल पैदा होगा, उसे सम्हालने के लिए निरंकुश दमनकारी सर्वसत्तावादी शासन की ज़रूरत होगी। आज आतंकवाद से निपटने के नाम पर सरकार जो कुछ कर रही है, वह दरअसल भविष्य के व्यापक जनउभारों से निपटने की दूरगामी तैयारी का एक हिस्सा मात्र है। आतंकवाद विरोध के नाम पर सरकार दरअसल आने वाले दिनों में उठ खड़े होने वाले जनसंघर्षों का मुक़ाबला करने के लिए हर तरह से चाक-चौबन्द हो रही है। यानी पूँजीवादी जनवाद का रहा-सहा दायरा भी व्यवस्था के गम्भीर ढाँचागत संकट के कारण सिकुड़ता जा रहा है।

यह अघोषित आपातकाल की आहट है। यह निरंकुश दमनतन्त्र संगठित करने की सुनियोजित कार्ययोजना का पहला चरण है। मेहनतकश जनसमुदाय को और नागरिक आज़ादी एवं जनवादी अधिकारों की हिफ़ाज़त के लिए संकल्पबद्ध बुद्धिजीवियों को एकजुट होकर उसके विरुद्ध आवाज़ उठानी होगी। शासक वर्ग ने भविष्य के मद्देनज़र अपनी तैयारियाँ तेज़ कर दी है। मेहनतकश जनसमुदाय की हरावल पाँतों को भी अपनी तैयारियाँ तेज़ कर देनी होंगी।

मारुति के मज़दूर आन्दोलन से उठे सवाल

(पेज 7 से आगे)

इस वस्तुगत सच्चाई को समझना होगा कि इन कारख़ाना- केन्द्रित संघर्षों की सफलता की सम्भावनाएँ अब ज़्यादा से ज़्यादा कम होती जा रही हैं। दूसरे, इनकी स्पष्ट सीमाएँ हैं। ये कुल औद्योगिक सर्वहारा आबादी के एक ऐसे छोटे से हिस्से की लड़ाइयाँ हैं, जो तुलनात्मक रूप से बेहतर जीवन-स्थिति वाला है।

क्रान्तिकारी शक्तियों को अपना मुख्य ध्यान और मुख्य ताक़त अस्थायी, दिहाड़ी, ठेका मज़दूरों की उस बहुसंख्यक आबादी पर लगाना होगा जो प्राय: युवा और उन्नत सांस्कृतिक चेतना से लैस होने के बावजूद निकृष्टतम कोटि के उजरती गुलामों की ज़िन्दगी बसर कर रहे हैं। इन्हें इलाक़ाई पैमाने पर ही संगठित किया जा सकता है, क्योंकि ये किसी एक कारख़ाने में लगातार काम नहीं करते होते। इन्हें आजीविका के अधिकार, भोजन-वस्त्र-आवास-शिक्षा-स्वास्थ्य जैसे बुनियादी नागरिक अधिकारों, ठेका प्रथा की समाप्ति, काम के घण्टों, छुट्टियों के प्रावधान, ओवरटाइम के डबल रेट से भुगतान आदि माँगों पर पूरे पूँजीपति वर्ग और उसकी हुकूमत के ख़िलाफ़ लामबन्द करने की प्रक्रिया काफ़ी लम्बी होगी, पर यहाँ मज़दूरों की पेशागत संकुचित प्रवृत्ति और अर्थवाद का शिकार होने का खतरा नहीं होगा। यदि सर्वहारा आबादी के इस बहुलांश को नई लाइन पर संगठित करने का काम थोड़ा भी आगे बढ़ सका तो, आसपास की व्यापक मज़दूर आबादी के एकजुट जुझारू समर्थन व भागीदारी के चलते, मारुति जैसे संघर्षों की जीत की भी ज़्यादा मुकम्मल गारण्टी होगी और तभी मज़दूरों के इस बेहतर जीवन-स्थिति वाले तबके की चेतना के क्रान्तिकारीकरण की सम्भावना भी अधिक मज़बूत हो सकेगी। और तभी इन मज़दूरों को अर्थवादी-ट्रेडयूनियनवादी धन्धेबाज़ों की गिरफ़्त से भी मुक्त किया जा सकेगा। तब तक, अपनी स्वाभाविक गति से, ऐसे मुद्दे लगातार उठते रहेंगे और हड़तालें होती रहेंगी। हमारे सोचने का रणनीतिक एजेण्डा यह है कि ऐसे संघर्ष किस प्रकार प्रभावी ढंग से लड़े और जीते जा सकेंगे, मज़दूर आबादी के व्यापक हिस्से तथा अधिक रैडिकल चेतना एवं सम्भावना वाले मज़दूरों को संगठित करने का रास्ता क्या होगा, ताक़त के हिसाब से और अपनी शक्तियों की तैनाती के हिसाब से हरावल की भूमिका निभाने के लिए संकल्पबद्ध किसी क्रान्तिकारी ग्रुप की प्राथमिकताएँ क्या होनी चाहिए, और पूँजीवादी उत्पादन प्रणाली में बदलावों के मद्देनज़र लड़ाई के तौर-तरीकों में आज किन अहम बदलावों की जरूरत है!

– सत्यम

महज़ पूँजीवाद का विरोध पर्याप्त नहीं है!

(पेज 11 से आगे)

भारतीय कम्युनिस्ट पार्टी मौजूद नहीं है। जो बिखरे हुए कम्युनिस्ट समूह और ग्रुप मौजूद हैं, उनमें से ज़्यादातर पुरानी घिसी-पिटी सोच पर कवायद किये जा रहे हैं, और भारत को पूँजीवादी देश मानने की बजाय, उसे एक अर्द्धसामन्ती और अर्द्ध-औपनिवेशिक देश मानने की ज़िद पर अड़े हुए हैं। सांगठनिक तौर पर, ये कम्युनिस्ट बोल्शेविक संस्कृति और अनुशासन को खो चुके हैं। इनमें से अधिकांश का नेतृत्व कठमुल्लावादी और अवसरवादी हो चुका है। ऐसे में, आज एक नयी क्रान्तिकारी पार्टी के निर्माण पर बल देना होगा। यह काम हमें अपने हाथ में तत्काल लेना होगा। मौजूदा अन्तरराष्ट्रीय हालात एक बेहद उथल-पुथल भरे भविष्य की ओर संकेत कर रहे हैं। आने वाले तीन-चार दशक बेहद झंझावाती होने वाले हैं। हम अगर ऐसे मौक़े के लिए तैयार नहीं हो सके, और क्रान्ति की घड़ी हमारे हाथ से निकल गयी, तो हमारी सज़ा होगी फ़ासीवाद! सर्वहारा वर्ग के महान शिक्षक माओ ने एक बार कहा था, "धरती पर हर चीज़ भयंकर अराजकता में है। हमारे लिए एक शानदार स्थिति है!" लेकिन ऐसी कोई भी शानदार स्थिति खुद-ब-खुद क्रान्ति में तब्दील नहीं होती। उसे क्रान्ति में तब्दील करने के लिए क्रान्तिकारी विचारधारा, क्रान्तिकारी संगठन और क्रान्तिकारी आन्दोलन की मौजूदगी अनिवार्य है।

सर्वहारा आबादी के सबसे बड़े और ग़रीब हिस्से...

(पेज 13 से आगे)

सन्तोषजनक मज़दूरी मिलती है, लेकिन 12-12 घण्टे कमरतोड़ मेहनत के बाद। लेकिन ज़्यादातर की क़िस्मत इतनी अच्छी नहीं होती। देश में खेती का सेक्टर लम्बे समय से संकटग्रस्त है और इसका सबसे बुरा प्रभाव देश के ग़रीब खेतिहर मज़दूरों पर पड़ता है, जिसकी मज़दूरी लगातार गुज़ारे के स्तर से भी नीचे जाती रहती है। क़ानूनों के जरिये कोई भी सरकारी विनियमन न होने के कारण ये खेतिहर मज़दूर पूरी तरह से बाज़ार की दया पर रहते हैं। सरकार खेतिहर मज़दूरों के हक़ों के लिए कोई भी क़ानून बनाने से कतराती है क्योंकि वह धनी किसानों, कुलकों और फार्मरों को नाराज़ नहीं करना चाहती। इन धनी किसानों की ताक़तवर राष्ट्रीय और क्षेत्रीय पार्टियाँ हैं जो कि उनके हितों की नुमाइन्दगी करती हैं और सत्ता में उनकी हिस्सेदारी को सुनिश्चित करती हैं। ऐसे में, न तो राष्ट्रीय सरकार और न ही राज्य सरकारें ऐसा कोई क़ानून बनाना चाहती हैं जो कि खेतिहर मज़दूरों की न्यूनतम मज़दूरी व अन्य अधिकारों को सुनिश्चित करे। यह तभी हो सकता है जब देश के ग्रामीण मज़दूर अपनी ठोस माँगों के इर्द-गिर्द एकजुट, गोलबन्द और संगठित हों।

'भारत के मज़दूरों का माँगपत्रक' सरकार के सामने ऐसी तमाम माँगें रखता है, जो कि खेतिहर और ग़ैर-खेतिहर ग्रामीण मज़दूरों के हितों की नुमाइन्दगी करती हैं। अगले अंक में हम इन ठोस माँगों के बारे में जानेंगे।

माँगपत्रक शिक्षणमाला–9

सर्वहारा आबादी के सबसे बड़े और सबसे ग़रीब हिस्से की माँगों के लिए नये सिरे से व्यवस्थित संघर्ष की ज़रूरत

मज़दूर माँगपत्रक–2011 की पहली सात माँगों – न्यूनतम मज़दूरी, काम के घण्टे कम करने, ठेका के ख़ात्मे, काम की बेहतर तथा उचित स्थितियों की माँग, कार्यस्थल पर सुरक्षा और दुर्घटना की स्थिति में उचित मुआवज़ा, प्रवासी मज़दूरों के हितों की सुरक्षा और स्त्री मज़दूरों की माँगों – के बारे में विस्तार से जानने के लिए 'मज़दूर बिगुल' के पिछले अंक ज़रूर पढ़ें – सम्पादक

भारत में सर्वहारा आबादी, यानी ऐसी आबादी जिसके पास अपने बाजुओं के ज़ोर के अलावा कोई सम्पत्ति या पूँजी नहीं है, क़रीब 70 करोड़ है। इस आबादी का भी क़रीब 60 प्रतिशत हिस्सा ग्रामीण सर्वहारा आबादी का है। यानी, गाँवों में खेतिहर और ग़ैर-खेतिहर मज़दूरों की संख्या क़रीब 40 करोड़ है। भारत की मज़दूर आबादी का यह सबसे बड़ा हिस्सा सबसे ज़्यादा ग़रीब, सबसे ज़्यादा असंगठित, सबसे ज़्यादा शोषित, सबसे ज़्यादा दमन-उत्पीड़न झेलने वाला और सबसे अशिक्षित हिस्सा है। इस हिस्से को उसकी ठोस माँगों के तहत एकजुट और संगठित किये बिना भारत के मज़दूर अपनी क्रान्तिकारी राजनीति को देश के केन्द्र में स्थापित नहीं कर सकते हैं। सभी पिछड़े पूँजीवादी देशों में, जहाँ आबादी का बड़ा हिस्सा खेती-बारी में लगा होता है और गाँवों में रहता है, वहाँ खेतिहर मज़दूरों को संगठित करने का सवाल ज़रूरी बन जाता है। कुछ ऐसी ही स्थिति रूस की थी जब लेनिन ने लिखा था: "रूस के सभी वर्ग संगठित हो रहे हैं। केवल वह वर्ग जो इनमें से सबसे ज़्यादा शोषित और सबसे ज़्यादा ग़रीब है, जो सबसे ज़्यादा बिखरा हुआ और सबसे ज़्यादा दमित है – यानी, रूस के खेतिहर उज़रती मज़दूरों का वर्ग – वही लगता है कि भुला-सा दिया गया है।...महान रूसी और उक्राइनी गुबेर्नियाओं की प्रबल बहुसंख्या, यानी कि ग्रामीण सर्वहारा के पास अपना कोई वर्ग संगठन नहीं है।... यह रूस के सर्वहारा के हिरावल, यानी कि औद्योगिक ट्रेड यूनियनों का अविवादास्पद और परम कर्त्तव्य है कि वे अपने भाइयों की सहायता के लिए, यानी ग्रामीण सर्वहारा की सहायता के लिए आगे आयें।" (लेनिन, रूस में एक कृषि मज़दूर यूनियन की आवश्यकता, 'प्राव्दा' संख्या 90 में, 24 जून 1917 को प्रकाशित)

लेनिन ने अपने इस कथन में एक ऐसी बात कही है जो आज हमारे लिए भी लागू होती है। भारत के करोड़ों-करोड़ ग्रामीण सर्वहारा बिखरे हुए हैं, बँटे हुए हैं, असंगठित हैं, अशिक्षित हैं और साथ ही वे दमन और शोषण के नग्नतम रूपों का शिकार हैं। लेकिन इसके बावजूद उनका कोई अलग वर्ग संगठन मौजूद नहीं है जो कि उनकी माँगों को लेकर संघर्ष करे, उन्हें संगठित करे। माकपा और भाकपा जैसे संशोधनवादियों की ट्रेड यूनियनों से यह उम्मीद करना बेकार है कि वे देश के इस सबसे बड़े हिस्से के लिए कोई संघर्ष करेंगे। भाकपा (माले) ने ग्रामीण मज़दूरों के बीच कुछ संगठन बनाये हैं लेकिन वे उनकी सर्वहारा वर्गीय माँगों पर संघर्ष करने के बजाय उनके बीच ज़मीन की भूख ही जगाने का काम करते हैं और इसके जरिये उन्हें मँझोले और धनी किसानों के संगठनों और आन्दोलनों का पिछलग्गू बनाने का काम करते हैं, जबकि इससे ग्रामीण सर्वहाराओं को कुछ भी हासिल नहीं होता।

गाँव के ग़रीब मज़दूरों की माँग क्या है?

लेनिन ने अपनी प्रसिद्ध पुस्तिका 'गाँव के ग़रीबों से' में स्पष्ट रूप से बताया है कि पूँजीवादी कृषि (यानी कि जब खेती उपभोग के लिए नहीं बल्कि बाज़ार के लिए होती है, ज़मीन ख़रीद-फ़रोख़्त की वस्तु बन जाती है, और खेतिहर आबादी सीधे सरकार को लगान देने लगती है न कि किसी सामन्ती भूस्वामी को) के शुरू होने के बाद गाँव की सबसे ग़रीब खेतिहर मज़दूर आबादी के लिए ज़मीन का सवाल प्रमुख सवाल नहीं रह जाता है। इसका कारण यह है कि खेती के लिए अब महज़ ज़मीन की ज़रूरत ही नहीं रह जाती है। पूँजीवादी खेती के दौर में केवल वही किसान खेती के बूते ज़िन्दा रह सकता है जिसके पास न केवल पर्याप्त मात्रा में ज़मीन हो, बल्कि जिसके पास पर्याप्त मात्रा में ढोर-डंगर, सहज उपलब्ध बीज, खेती की मशीनें और उपकरण, बेहद आसान दरों पर कर्ज़ और बाज़ार तक सहज पहुँच मौजूद हो। हम सभी जानते हैं कि अगर करोड़ों भूमिहीन खेतिहर मज़दूरों को दो-ढाई बीघा ज़मीन मिल भी जाये तो उसके पास पर्याप्त मात्रा में गाय-बैल, पूँजी, बीज, कर्ज़ और मशीनरी उपलब्ध नहीं होगी। खेती में आज जो चीज़ सबसे महत्वपूर्ण बन गयी है वह है पूँजी। जिसके पास पर्याप्त मात्रा में नकदी और आसान शर्तों पर कर्ज़ की मौजूदगी नहीं है वह अगर ज़मीन के किसी छोटे-से टुकड़े का मालिक बन भी जाये तो सरकार से लेकर उसके बैंकों तक उसकी ज़रूरतों की पुकार नहीं पहुँचने वाली। वह अन्ततः तबाह होकर दूसरे के खेतों पर मज़दूरी करने को ही विवश होगा, भले ही वह अपनी ज़मीन का मालिक बना रहे। उसके लिए ज़मीन का मालिक होना महज़ एक कहने की चीज़ बनकर रह जायेगी और उसका गुज़ारा मुख्य तौर पर दूसरे के खेतों पर मज़दूरी करके या फिर शहरों में प्रवासी मज़दूर के तौर पर खटने से ही चलेगा। वास्तव में, छोटे और ग़रीब किसानों की एक भारी बहुसंख्या आज यही करने को मजबूर है। गाँवों में खेती योग्य अच्छी भूमि का क़रीब 80 प्रतिशत धनी और खाते-पीते मँझोले किसानों के पास है, जबकि उनकी आबादी कुल ग्रामीण आबादी में महज़ 10 से 15 फ़ीसदी के बीच है। देश की कुल आबादी में से 2011 की जनगणना के अनुसार खुदकाश्त किसानों का हिस्सा 30 प्रतिशत से भी कम है। इनमें से क़रीब 66 प्रतिशत ऐसे हैं जो छोटे या बेहद छोटे किसान हैं। ये छोटे या बेहद छोटे किसान अपने जीविकोपार्जन के लिए मुख्य रूप से अपनी भूमि पर खेती पर निर्भर नहीं है। ये दूसरे के खेतों पर काम करके अपना गुज़ारा करते हैं। खुदकाश्त किसानों की कुल संख्या 2001 में क़रीब 12 करोड़ थी, जबकि खेतिहर मज़दूरों की संख्या क़रीब 11 करोड़ थी। लेकिन इन 12 करोड़ किसानों में से क़रीब 8 करोड़ इतने ग़रीब हैं कि उन्हें अर्द्धसर्वहारा कहा जाना चाहिए। यानी कुल खेतिहर सर्वहारा और अर्द्धसर्वहारा की संख्या क़रीब 20 करोड़ के आस-पास थी। 2011 में यह बढ़कर क़रीब 23 करोड़ हो चुकी थी। अभी हम इसमें ग्रामीण सर्वहारा के उस हिस्से को नहीं जोड़ रहे हैं जो कि ग़ैर-खेतिहर पेशों में लगे हैं। अगर खेती में लगी कुल आबादी को देखें तो उसका क़रीब 80 फीसदी हिस्सा सर्वहारा या अर्द्धसर्वहारा का है। इस आबादी को ज़मीन के छोटे टुकड़ों से न तो कुछ हासिल हो सका है न ही हो सकता है। उसे एक इज़्ज़त और आसूदगी की ज़िन्दगी दो बीघे ज़मीन से नहीं मिल सकती। क्या आज ही छोटे और ग़रीब किसानों की बदहाल ज़िन्दगी चीख़-चीख़ कर इस बात का सबूत नहीं दे रही है? एक बात स्पष्ट है कि इस देश के खेतिहर सर्वहारा समेत 40 करोड़ ग्रामीण सर्वहारा की अन्तिम माँग समाजवाद ही हो सकती है। उनकी अन्तिम माँग साझा खेती हो सकती है, न कि ज़मीन का एक छोटा-सा टुकड़ा, जो न तो उन्हें एक बेहतर ज़िन्दगी दे सकता हो और न ही चैन और सुकून।

लेकिन ऐसा तभी सम्भव हो सकता है जब देश का सर्वहारा वर्ग (ग्रामीण भी और शहरी भी) अपनी क्रान्तिकारी पार्टी के तहत एकजुट होकर बुर्जुआ राजसत्ता को चकनाचूर करे और उत्पादन, राज-काज और समाज के पूरे ढाँचे पर उत्पादन करने वाले वर्गों का हक़ क़ायम कर दे; जब सारे कल-कारखाने मज़दूरों की पंचायतों को सौंप दिये जायें, सारी खान-खदान देश की मेहनतकश जनता की साझी सम्पत्ति बना दी जायें, सारे खेत-खलिहान किसानों की पंचायतों के हवाले कर दिये जायें और शासन-सत्ता पर मज़दूरों और किसानों की पंचायत का नियन्त्रण क़ायम हो जाये। यह एक लम्बी और जटिल लड़ाई है जिसके लिए आज ही से एक इन्क़लाबी पार्टी बनाने की तैयारी के साथ शुरुआत करनी होगी। लेकिन तब तक इस देश के करोड़ों खेतिहर मज़दूर चुपचाप बैठे नहीं रह सकते। उन्हें इस पूँजीवादी सत्ता से अपने उन सभी अधिकारों को हासिल करने की लड़ाई लड़नी होगी जो कि पूँजीवाद जनवाद उन्हें देने का वायदा करता है, या जो संवैधानिक उसूलों के मुताबिक उन्हें मिलने चाहिए।

पूँजीवादी सरकार से ग्रामीण मज़दूरों की माँगें क्या हों?

जैसा कि हम पहले ही बता चुके हैं, ग्रामीण सर्वहारा आबादी इस देश के सर्वहारा वर्ग का सबसे बड़ा हिस्सा है। लेकिन इसके बावजूद वह सबसे बिखरा, असंगठित, शोषित, उत्पीड़ित और अशिक्षित हिस्सा है। इन सबके बावजूद यह बात आश्चर्यजनक है कि ग्रामीण मज़दूरों के आर्थिक हितों की हिफ़ाज़त के लिए देश की कानून-व्यवस्था और संविधान कोई व्यवस्थित ढाँचा मुहैया नहीं कराता। देश भर में ग्रामीण मज़दूरों के लिए कोई एकरूप क़ानूनी ढाँचा मौजूद नहीं है। सरकार ने गाँवों से उजड़ने वाले मज़दूरों के शहरों में प्रवास को रोकने और कम करने के लिए महात्मा गाँधी राष्ट्रीय ग्रामीण रोज़गार गारण्टी योजना शुरू की। लेकिन यह योजना खुद ही सरकार द्वारा बनाये गये क़ानूनों का उल्लंघन करती है। इस योजना के तहत मिलने वाले काम के बदले मज़दूरों को न्यूनतम मज़दूरी तक नहीं दी जाती। ऊपर से यह योजना वर्ष में मात्र 100 दिनों के रोज़गार की गारण्टी देती है। इसलिए वास्तव में यह रोज़गार गारण्टी है ही नहीं क्योंकि रोज़गार का अर्थ ही यह है कि साल भर, नियमित तौर पर रोज़ मिलने वाला काम। लेकिन अगर कोई योजना महज़ 100 दिनों के काम की गारण्टी कर रही है तो वह ग्रामीण मज़दूरों के साथ एक भद्दा मज़ाक़ है, और साथ ही उनमें रोज़गार का भ्रम पैदा करती है। इसके अतिरिक्त, इससे होने वाली आय ग्रामीण मज़दूरों को केवल भुखमरी के स्तर पर ज़िन्दा रख सकती है। और यह सब कुछ भी तब होगा जब यह योजना भ्रष्टाचार से मुक्त होकर लागू हो। और हम सब जानते हैं कि मुनाफ़े की हवस में अन्धी पूँजीवादी व्यवस्था और समाज में यह सम्भव ही नहीं है। हालत यह है कि इस योजना के लिए आवण्टित 40 हज़ार करोड़ रुपये में से अच्छा-ख़ासा हिस्सा इस्तेमाल ही नहीं होता और जो होता है, उसका भी बड़ा हिस्सा सरपंचों, तहसीलदारों से लेकर ब्लाक विकास अधिकारी की जेब में चला जाता है। यानी कि ग्रामीण सर्वहारा के पास पहुँचती है केवल जूठन-छाजन। इसलिए स्पष्ट है कि ग्रामीण मज़दूरों के लिए इस योजना से बहुत कुछ उम्मीद करना बेकार है।

ऐसी कुछेक आधी-अधूरी, मज़ाकिया योजनाओं के अलावा गाँव के ग़रीब मज़दूरों के लिए सरकार के पास श्रम क़ानूनों का कोई ढाँचा मौजूद नहीं है। राष्ट्रीय ग्रामीण श्रम आयोग ने सरकार से ऐसे क़ानूनी ढाँचे की सिफ़ारिश की थी जो कि ग्रामीण मज़दूरों के लिए, चाहे वे खेतिहर मज़दूर हों या फिर ग़ैर-खेतिहर मज़दूर, इस बात की गारण्टी करे कि उनके कार्यदिवस आठ घण्टे के हों, उन्हें साप्ताहिक छुट्टी मिले, उनकी सामाजिक सुरक्षा के लिए पी.एफ़ और ई.एस.आई. कार्ड योजना शुरू की जाये और उनके आवास आदि के लिए भी सरकार ज़िम्मेदारी लेकर योजना बनाये। लेकिन इन सिफ़ारिशों पर न अमल होना था और न ही हुआ। ग्रामीण मज़दूरों के काम करने की परिस्थितियाँ भी घातक होती हैं और एक आकलन के अनुसार औद्योगिक दुर्घटनाओं में जितने शहरी मज़दूर जान गँवाते हैं या अपंग होते हैं, ग्रामीण मज़दूर भी काम के दौरान होने वाली दुर्घटनाओं में लगभग उतनी ही तादाद में जान गँवाते या अपंग होते हैं। हालाँकि शहरी मज़दूरों के लिए इन सब चीज़ों के लिए क़ानून होने के बावजूद वे लागू नहीं होते, लेकिन शहरी औद्योगिक मज़दूरों द्वारा लड़कर इन हक़ों को हासिल किया जाना एक बड़ी जीत था, और अब लड़ाई इन कानूनों को लागू करवाने और उसके लिए पूरे प्रशासनिक ढाँचे में परिवर्तन कराने की है। लेकिन ग्रामीण मज़दूरों के लिए अब तक ऐसे क़ानून ही नहीं हैं, इसलिए वे कोई क़ानूनी लड़ाई लड़ ही नहीं सकते। वास्तव में, अभी तो ज़रूरत ऐसे क़ानूनी ढाँचे को बनवाने की है। जहाँ तक खेतिहर मज़दूरों की माँगों का सवाल है, वह मुख्य तौर पर खेतिहर मज़दूरी के मानक तय करने की है। खेतिहर मज़दूरी का अभी कोई सरकारी मानक या पैमाना नहीं है। ऐसे में, खेतिहर मज़दूर पूरी तरह से बाज़ार की ताक़तों और धनी और मँझोले किसानों के रहम पर रहता है। बाज़ार में तेज़ी होने पर कई बार उसे

(पेज 12 पर जारी)

राजनीतिक उद्वेलन और प्रचार कार्य का महत्व

• व्ला.इ. लेनिन

...सभी देशों के मज़दूर आन्दोलन के इतिहास से यह पता चलता है कि मज़दूरों के सबसे अग्रणी संस्तर ही समाजवाद के विचारों को सबसे पहले और सबसे अच्छी तरह ग्रहण करते हैं। इन संस्तरों से ही वे हरावल मज़दूर आते हैं जिन्हें हर मज़दूर आन्दोलन आगे बढ़ाता है, वे मज़दूर जो मज़दूर समूहों का पूरा विश्वास पा सकते हैं, जो सर्वहारा की शिक्षा और संगठन के कार्य में अपना सर्वस्व अर्पित करते हैं, जो पूरी तरह सचेतन रूप से समाजवाद को स्वीकार करते हैं और जिन्होंने स्वतन्त्र रूप से समाजवादी सिद्धान्त निरूपित तक कर लिये हैं। हर जानदार मज़दूर आन्दोलन अपने ऐसे नेता, अपने प्रूदों और वाइयाँ, वाइटलिंग और बेबेल सामने लाता रहा है। रूसी मज़दूर आन्दोलन भी इस मामले में यूरोप से पीछे नहीं रहने वाला है। आज जबकि शिक्षित समाज ईमानदारी भरे, गैरक़ानूनी साहित्य में दिलचस्पी खो रहा है, तो मज़दूरों में ज्ञान की और समाजवाद की उत्कट अभिलाषा बढ़ रही है, मज़दूरों में सच्चे वीर सामने आ रहे हैं, जो अपने जीवन के बेहूदा हालात के बावजूद, फ़ैक्टरी में जड़ीभूत कर देने वाले जेल-जैसे श्रम के बावजूद ऐसा चरित्र और इतना दृढ़ संकल्प रखते हैं कि वे अध्ययन में जुटे रहते हैं और अपने को सचेतन सामाजिक-जनवादी "मज़दूर बुद्धिजीवी" बनाते हैं। रूस में ऐसे "मज़दूर बुद्धिजीवी" अब हैं और हमें इस बात के लिए पूरा प्रयत्न करना चाहिए कि इनकी संख्या निरन्तर बढ़े, इनकी उच्च बौद्धिक आवश्यकताएँ पूरी हों, कि इनके बीच से रूसी सामाजिक-जनवादी मज़दूर पार्टी के नेता बनें। वह समाचारपत्र, जो सभी रूसी सामाजिक-जनवादियों का मुखपत्र बनना चाहता है, उसे इन अग्रणी मज़दूरों के स्तर पर ही होना चाहिए, उसे न केवल अपने स्तर को कृत्रिम रूप से नीचा नहीं करना चाहिए, बल्कि उल्टे, उसे निरन्तर ऊँचा उठाना चाहिए, विश्व सामाजिक-जनवाद के सभी कार्यनीतिक, राजनीतिक और सैद्धान्तिक प्रश्नों पर ध्यान देना चाहिए। ऐसा होने पर ही मज़दूर बुद्धिजीवियों की आवश्यकताएँ पूरी होंगी और वे रूसी मज़दूरों के और परिणामत: रूसी क्रान्ति के ध्येयों को अपने हाथों में ले लेंगे।

संख्या में कम अग्रणी मज़दूरों के संस्तर के बाद औसत मज़दूरों का व्यापक संस्तर आता है। ये मज़दूर भी समाजवाद के लिए लालायित हैं, मज़दूर अध्ययन मण्डलों में भाग लेते हैं, समाजवादी अख़बार और पुस्तकें पढ़ते हैं, प्रचार-कार्य में भाग लेते हैं। उपरोक्त संस्तर से ये केवल इसी बात में भिन्न हैं कि ये सामाजिक-जनवादी मज़दूर आन्दोलन का स्वतंत्र रूप से संचालन नहीं कर सकते। उस समाचारपत्र में, जो पार्टी का मुखपत्र होगा, औसत मज़दूर कुछ लेख नहीं समझ पायेगा, जटिल सैद्धान्तिक या व्यावहारिक प्रश्न उसके लिए पूरी तरह स्पष्ट नहीं होगा। इससे यह निष्कर्ष कतई नहीं निकलता कि अख़बार को अपना स्तर अपने अधिकांश पाठकों के स्तर तक नीचे लाना चाहिए। उल्टे, अख़बार को उनका स्तर ऊँचा उठाना चाहिए और औसत मज़दूरों के संस्तर से अग्रणी मज़दूरों को सामने लाने में मदद करनी चाहिए। मज़दूर आन्दोलन की घटनाओं में और आन्दोलनकारी प्रचार के तात्कालिक प्रश्नों में ही सबसे अधिक रुचि लेने वाले तथा स्थानीय व्यावहारिक गतिविधियों में डूबे हुए ऐसे मज़दूरों को अपने हर क़दम के साथ सारे रूसी मज़दूर आन्दोलन का, उसके ऐतिहासिक कार्यभार का, समाजवाद के अन्तिम ध्येय का विचार जोड़ना चाहिए, इसलिए ऐसे समाचारपत्र को जिसके अधिकांश पाठक औसत मज़दूर ही हैं, हर स्थानीय और संकीर्ण प्रश्न के साथ समाजवाद और राजनीतिक संघर्ष को जोड़ना चाहिए।

अन्तत:, औसत संस्तर के बाद सर्वहारा के निम्नतर संस्तर के समूह आते हैं। बहुत सम्भव है कि समाजवादी समाचारपत्र पूरी तरह या प्राय: पूरी तरह उनकी समझ से परे होगा (आख़िर पश्चिमी यूरोप में भी सामाजिक-जनवादी मतदाताओं की संख्या सामाजिक-जनवादी अख़बारों के पाठकों की संख्या से कहीं अधिक है), लेकिन इससे यह निष्कर्ष निकालना बिल्कुल बेतुका होगा कि सामाजिक-जनवादियों के समाचारपत्र को मज़दूरों के यथासम्भव अधिक निम्नतर संस्तर के अनुरूप बनाना चाहिए। इससे तो केवल यही निष्कर्ष निकलता है कि ऐसे संस्तरों पर प्रचार के दूसरे साधनों से प्रभाव डालना चाहिए : अधिक सरल, सुबोध भाषा में लिखी पुस्तिकाओं, मौखिक प्रचार तथा मुख्यत: स्थानीय घटनाओं पर परचों द्वारा। सामाजिक-जनवादियों को तो इतने तक ही सीमित नहीं रहना चाहिए : बहुत सम्भव है कि मज़दूरों के निम्नतर संस्तरों में वर्ग-चेतना जगाने के पहले क़दम क़ानूनी शिक्षात्मक कार्यों के रूप में ही उठाये जाने चाहिए। पार्टी के लिए यह बहुत महत्त्वपूर्ण है कि वह इन कार्यों का उपयोग करे, इन्हें उस दिशा में ही लक्षित करे, जहाँ इनकी सबसे अधिक आवश्यकता है; क़ानूनी ढंग से काम करने वालों को उस ज़मीन को जोतने के लिए भेजे, जिसमें बाद में सामाजिक-जनवादी आन्दोलनकारी प्रचारक बीज बोयेंगे। बेशक मज़दूरों के निम्नतर संस्तरों में प्रचार-कार्य में प्रचारकों को अपनी निजी विशिष्टताओं, स्थान, व्यवसाय आदि की विशिष्टताओं का उपयोग करने की सर्वाधिक व्यापक सम्भावनाएँ मिलनी चाहिए। बर्नस्टीन के ख़िलाफ़ पुस्तक में काउत्स्की लिखते हैं, "कार्यनीति और प्रचार को गड्डमड्ड नहीं करना चाहिए"। "प्रचार का तरीक़ा व्यक्तिगत और स्थानीय परिस्थितियों के अनुकूल होना चाहिए। प्रचार-कार्य में हर प्रचारक को वे साधन चुनने की छूट देनी चाहिए, जो उसके पास हैं : कोई प्रचारक अपने जोश से सबसे अधिक प्रभावित करता है तो कोई दूसरा अपने तीखे कटाक्षों से, जबकि तीसरा ढेरों मिसालें देकर, वग़ैरह-वग़ैरह। प्रचारक के अनुरूप होते हुए प्रचार को जनता के भी अनुरूप होना चाहिए। प्रचारक को ऐसे बोलना चाहिए कि सुनने वाले उसकी बातें समझें; उसे यह ध्यान में रखना चाहिए कि श्रोता क्या कुछ जानते हैं। कहना न होगा कि ये सब बातें केवल किसानों के बीच प्रचार-कार्य पर ही लागू नहीं होती हैं। गाड़ीवानों से ऐसे बात नहीं करनी चाहिए, जैसे जहाज़ियों से और जहाज़ियों से वैसे बात नहीं करनी चाहिए, जैसे छापाख़ाने के मज़दूरों से। प्रचार-कार्य व्यक्तियों के अनुरूप होना चाहिए, लेकिन हमारी कार्यनीति – हमारी राजनीतिक गतिविधियाँ एक ही होनी चाहिए" (पृ. 2-3)। सामाजिक-जनवादी सिद्धान्त के अग्रणी प्रतिनिधि के इन शब्दों में पार्टी की सारी गतिविधियों में प्रचार-कार्य का मर्म बड़ी अच्छी तरह व्यक्त किया गया है। ये शब्द बताते हैं कि उन लोगों के सन्देह कितने निराधार हैं, जो यह सोचते हैं कि राजनीतिक संघर्ष चलाने वाली क्रान्तिकारी पार्टी गठित किया जाना आन्दोलनकारी प्रचार-कार्य में बाधक होगा, उसे पृष्ठभूमि में डाल देगा या प्रचारकों की स्वतन्त्रता सीमित करेगा। इसके विपरीत सुसंगठित पार्टी ही व्यापक प्रचार-कार्य कर सकती है, सभी आर्थिक और राजनीतिक प्रश्नों पर प्रचारकों को आवश्यक निर्देश (और सामग्री) दे सकती है, प्रचार-कार्य की हर स्थानीय सफलता का उपयोग सभी रूसी मज़दूरों की शिक्षा के लिए कर सकती है, प्रचारकों को ऐसे लोगों के बीच या ऐसे स्थानों पर भेज सकती है, जहाँ वे सर्वाधिक सफलता से काम कर सकते हैं। सुसंगठित पार्टी में ही प्रचारक की योग्यता रखने वाले लोग अपने को पूरी तरह इस कार्य को अर्पित करने की दशा में होंगे, जिससे प्रचार-कार्य का भी और सामाजिक-जनवादी कार्य के शेष सभी पहलुओं का भी हित होगा। इससे यह पता चलता है कि जो व्यक्ति आर्थिक संघर्ष के पीछे राजनीतिक उद्वेलन और प्रचार-कार्य को भुला देता है, जो मज़दूर आन्दोलन को राजनीतिक पार्टी के संघर्ष में संगठित करने की आवश्यकता को भुला देता है, वह, और सब बातों के अलावा सर्वहारा के निम्नतर संस्तरों को मज़दूरों के ध्येय में शामिल करने का कार्य सुदृढ़ आधार पर और सफलतापूर्वक करने के अवसर तक से अपने आप को वंचित करता है।

('रूसी सामाजिक जनवादियों के बीच में प्रतिगामी प्रवृत्ति' शीर्षक लेख (1899 में लिखित) का एक अंश)

नोट: 1. इस उद्धरण का शीर्षक हमने दिया है – सं.; 2. इस लेख में 'सामाजिक जनवादियों' शब्द का प्रयोग कम्युनिस्टों के लिए किया गया है। बाद में इसका इस्तेमाल संशोधनवादियों के लिए किया जाने लगा। – सं.

मज़दूर वर्ग और समाजवाद को समर्पित एक सच्चा बुद्धिजीवी: जॉर्ज थॉमसन

शोषण और लूट पर टिकी कोई भी व्यवस्था कभी नहीं चाहती कि ऐसे विचार जनता के बीच पहुँचें जो जनता के संघर्षों को प्रेरित करें और उन्हें उनकी मुक्ति का रास्ता बताएँ। न ही ऐसी कोई भी व्यवस्था यह चाहती है कि जनता उन विचारकों के बारे में जाने जो उसके संघर्षों के साझीदार हों। यह बात पूँजीवादी व्यवस्था पर भी लागू होती है। मेहनत और कुदरत की लूट पर खड़ी यह व्यवस्था बहुसंख्यक मेहनतकशों को उनके संघर्षमयी इतिहास और उसमें संघर्षरत योद्धाओं से काटने की हर चन्द कोशिश करती है। कारण स्पष्ट है। इनके बारे में कोई भी इल्म स्वयं पूँजीवाद के लिए ख़तरनाक साबित हो सकता है। यही कारण है कि पूरा पूँजीवादी प्रचार तन्त्र या तो मज़दूर वर्ग के इतिहास, उसके द्वारा अंजाम दी गयी क्रान्तियों और उसके नेताओं के बारे में कुत्सा-प्रचार करता है, भ्रम फैलाता है, इनसे जुड़े तथ्यों को तोड़ता-मरोड़ता है; या फिर इन सबके विषय में एक सोची-समझी, साज़िशाना चुप्पी का रुख़ अपनाता है। मज़दूर वर्ग का पक्ष चुनने वाले एक ऐसे ही विलक्षण बुद्धिजीवी जॉर्ज थॉमसन का नाम पूँजीवादी मीडिया कभी नहीं लेता है। जॉर्ज थॉमसन न केवल एक प्रखर मार्क्सवादी बुद्धिजीवी थे, बल्कि एक सक्रिय मज़दूर संगठनकर्ता भी थे।

जॉर्ज थॉमसन का जन्म 1903 में ब्रिटेन में हुआ था। 1936 में वे बर्मिंघम विश्वविद्यालय में यूनानी भाषा और साहित्य के प्रोफेसर नियुक्त हुए। उसी वर्ष वे ब्रिटेन की कम्युनिस्ट पार्टी से भी जुड़े। साहित्यिक लेखन के साथ-साथ वे लगातार कम्युनिस्ट अख़बारों और पत्र-पत्रिकाओं के लिए नियमित रूप से लिखते रहे। उन्होंने विशेषकर मज़दूर वर्ग के पाठकों के लिए मार्क्सवाद और मज़दूर आन्दोलन पर कई निबन्ध एवं पर्चे लिखे। यह कहना भी यहाँ ग़लत नहीं होगा कि 1940 के दशक के अन्त तक उन्हें ब्रिटेन में मार्क्सवाद के सबसे प्रख्यात शिक्षक और लेखक के रूप में जाना जाने लगा था। जॉर्ज थॉमसन कोई निष्क्रिय मार्क्सवादी बुद्धिजीवी नहीं थे। उन्होंने जीवन-पर्यन्त एक क्रान्तिकारी बुद्धिजीवी की भूमिका निभायी। अपनी तमाम बौद्धिक, अकादमिक व्यस्तताओं के बावजूद वे आजीवन बर्मिंघम के मज़दूरों के बीच राजनीतिक प्रचार-प्रसार का कार्य करते रहे। मज़दूरों की राजनीतिक शिक्षा-दीक्षा और उनकी सांस्कृतिक टोलियों को संगठित करने के साथ-साथ वे पार्टी का सांगठनिक काम भी देखते थे और कई मज़दूर आन्दोलनों में उन्होंने सक्रिय भागीदारी भी की।

जॉर्ज थॉमसन पश्चिमी दुनिया के उन चन्द बुद्धिजीवियों में एक थे जो अन्तरराष्ट्रीय कम्युनिस्ट आन्दोलन में संशोधनवाद के विरुद्ध चट्टान की तरह डटे रहे। उन्होंने ख्रुश्चेवी संशोधनवाद और चीनी देङपंथियों के संशोधनवाद के ख़िलाफ़ सही मार्क्सवादी-लेनिनवादी अवस्थिति अपनायी। 1951 में उन्होंने ब्रिटेन की कम्युनिस्ट पार्टी द्वारा जारी एक दस्तावेज़ का विरोध किया क्योंकि उसमें सर्वहारा अधिनायकत्व का कोई उल्लेख नहीं था। पार्टी की कार्यकारी समिति के वे एकमात्र सदस्य थे जिन्होंने ऐसा किया। जॉर्ज थॉमसन चीनी क्रान्ति और माओ के विचारों से काफ़ी प्रभावित थे। यही कारण है कि जब ब्रिटेन की कम्युनिस्ट पार्टी ने संशोधनवाद की राह पकड़ी तो उन्होंने पार्टी से निर्णायक तौर पर विच्छेद कर लिया। पार्टी से अलग होने के बाद भी उन्होंने बर्मिंघम के कारख़ाना मज़दूरों के बीच राजनीतिक-सांस्कृतिक काम जारी रखा। मार्क्सवाद पर उनकी कक्षाओं में मज़दूरों के साथ ही छात्र-युवा भी भारी संख्या में उपस्थित रहते थे। 1950 के दशक में उन्होंने कुछ लेखकों, कलाकारों और नाटककारों के साथ मिलकर 'समाजवादी नाटक कम्पनी' की शुरुआत की। उन्होंने 'बर्मिंघम व मिडलैण्ड लोक केन्द्र' की स्थापना भी की। बर्मिंघम के मज़दूरों के प्रसिद्ध गायन दल 'क्लैरियन सिंगर्स' की स्थापना भी जॉर्ज थॉमसन की ही पहल पर हुई थी।

1963 में माओ के नेतृत्व में चीनी पार्टी ने सोवियत कम्युनिस्ट पार्टी के संशोधनवाद के ख़िलाफ़ 'महान बहस' की शुरुआत की। उस समय तक ब्रिटेन की कम्युनिस्ट पार्टी समेत यूरोप की सभी कम्युनिस्ट पार्टियों ने संशोधनवाद का रास्ता अपना लिया था। यूरोप में उस समय चीनी पार्टी और माओ त्से-तुङ के ख़िलाफ़ घृणित कुत्सा-प्रचार की मुहिम ज़ोरों पर थी। इसका विरोध करने के लिए और साथ ही पश्चिमी देशों के मज़दूर वर्ग, वाम बुद्धिजीवियों और कम्युनिस्ट कतारों को चीन के समाजवादी प्रयोग से अवगत कराने के लिए 1963 में जॉर्ज थॉमसन ने कई अन्य मार्क्सवादी-लेनिनवादी बुद्धिजीवियों के साथ मिलकर 'चाइना पॉलिसी स्टडी ग्रुप' का गठन किया। इसी अध्ययन मण्डल के तहत 'ब्रॉडशीट' नामक एक मासिक बुलेटिन का भी प्रकाशन शुरू किया गया जो जल्दी ही बड़ी संख्या में लगभग 40 देशों में वितरित होने लगा। सर्वहारा सांस्कृतिक क्रान्ति की पूरी अवधि के

(पेज 15 पर जारी)

अन्तरराष्ट्रीय स्त्री दिवस (8 मार्च) पर दो कविताएँ

जो पैदा होंगी हमारे बाद

ये मत कहो बहनो कि तुम कुछ नहीं कर सकतीं
आस्था की कमी अब और नहीं
हिचक अब और नहीं
आओ, पूछें अपने आप से
क्या चाहते हैं हम?

पूर्ण मुक्ति चाहिए, नहीं चाहते कम
उड़ाने दो माखौल उन्हें, रुक जायेगी हँसी एक दिन
वे दिन क्या दूर हैं?
क्या फ़र्क पड़ता है उससे।

संघर्षों में झेलनी हैं दिक्क़तें और तकलीफ़ें हमें
सुख उन बहनों के लिए होगा, जो पैदा होंगी हमारे बाद।

– अज्ञात

मेरे क्रोध की लपटें

– एक फ़िलिस्तीनी स्त्री

तुमने मुझे बाँधा है
जकड़ा है ज़ंजीरों में
पर लपटें मेरे क्रोध की
धधकती हैं, लपकती हैं।
नहीं कोई आग इतनी तीखी
क्योंकि मेरी पीड़ा के ईंधन से
ये जीती हैं, पनपती हैं।

आग को ठण्डाने के लिए
हँस सकती हूँ मैं भी
उन लोगों की ताक़त पर
हैं नहीं जो इंसान
कहलाने के काबिल भी।

शरीर बाँध सकते हो,
बेड़ियों से, ज़ंजीरों से
शब्दों को बन्दी बनाना नहीं मुमकिन
वो तो उड़ जायेंगे
मुक्त पंछियों से।

(अनुवाद: वीणा शिवपुरी)

आज की दुनिया में स्त्रियों की हालत को बयान करते आँकड़े

स्त्रियाँ और ग़रीबी

● विश्व में किए जाने वाले कुल श्रम (घण्टों में) का 67 प्रतिशत हिस्सा स्त्रियों के हिस्से आता है, जबकि आमदनी में उनका हिस्सा सिर्फ़ 10 प्रतिशत है और विश्व की सम्पत्ति में उनका हिस्सा सिर्फ़ 1 प्रतिशत है।
● विश्वभर में स्त्रियाँ को पुरुषों से औसतन 30-40 प्रतिशत कम वेतन दिया जाता है।
● विकासशील देशों में 60-80 प्रतिशत भोजन स्त्रियों द्वारा तैयार किया जाता है।
● प्रबन्धन और प्रशासनिक नौकरियों में स्त्रियों का हिस्सा सिर्फ़ 10-20 प्रतिशत है।
● विश्वभर में स्कूल न जाने वाले 6-11 वर्ष की उम्र के 13 करोड़ बच्चों में से 60 प्रतिशत लड़कियाँ हैं।
● विश्व के 80 करोड़ 75 लाख अनपढ़ बालिगों में अन्दाज़न 67 प्रतिशत स्त्रियाँ हैं।

स्त्रियाँ और स्वास्थ्य

● विश्वभर में एचआईवी/एड्स के मरीजों में 50 प्रतिशत स्त्रियाँ हैं।
● वर्ष 2000 में आठ करोड़ स्त्रियों को अनचाहे गर्भधारण करने पड़ा।
– 2 करोड़ स्त्रियों ने असुरक्षित गर्भपात कराये।
– बच्चा जनने के दौरान 5 लाख स्त्रियों की मौत हो गयी।

भारत में स्त्रियों के विरुद्ध अपराध

(नीचे दिए गए आँकड़े राष्ट्रीय अपराध रिकार्ड ब्यूरो द्वारा जारी की गई विभिन्न रिपोर्टों में से लिये गये हैं।)
● हर 3 मिनट में स्त्रियों के विरुद्ध एक अपराध होता है।
● भारत में 2001-2005 के बीच कन्या भ्रूण हत्या के 6 लाख 92 हज़ार मामले प्रकाश में आये।

वर्ष 2010 में स्त्रियों के विरुद्ध हुए अपराध

● 22172 स्त्रियाँ बलात्कार का शिकार हुई।
● रोजाना लगभग 60 स्त्रियाँ बलात्कार का शिकार हुई।
● हर 30 मिनट में एक स्त्री बलात्कार का शिकार हुई। इनमें से कई मामलों में यह कुकर्म करने वाले लड़कियों के नज़दीकी रिश्तेदार थे।

शारीरिक छेड़छाड़ (वर्ष 2010)

● शारीरिक छेड़छाड़ के 40,613 मामले सामने आये।
● हर रोज 111 स्त्रियों को शारीरिक छेड़छाड़ का सामना करना पड़ता है।

अपहरण की घटनाएँ (वर्ष 2010)

● 29795 स्त्रियाँ और नाबालिग लड़कियाँ अगवा की गयीं।
● 81 स्त्रियाँ और नाबालिग लड़कियाँ हर रोज अगवा की गयीं।

दहेज के कारण मौतें

● 2010 में 8391 स्त्रियाँ दहेज की बलि चढ़ीं।

घरेलू हिंसा

● वर्ष 2010 में 94,041 स्त्रियाँ घरेलू हिंसा का शिकार हुई।
● स्त्रियों के ख़िलाफ़ अपराधों में घरेलू हिंसा का हिस्सा 55 प्रतिशत से अधिक है।
● 70 प्रतिशत से अधिक विवाहित स्त्रियों को अपने पतियों के हाथों मारपीट का शिकार होना पड़ता है।
● हर दो में से एक स्त्री को शारीरिक, यौन, मानसिक और/या आर्थिक हिंसा का सामना करना पड़ता है।

यौन-शोषण

● 350 स्कूली बच्चों से पूछताछ के दौरान सामने आया कि-
– उनमें से 63 प्रतिशत को अपने पारिवारिक सदस्यों के हाथों यौन-शोषण का शिकार होना पड़ा।
– यह कुकर्म करने वालों में 35 प्रतिशत या तो बच्चियों के पिता थे या दादा और या नजदीकी पारिवारिक मित्र।
● 600 स्त्रियों से की गई पूछताछ के दौरान सामने आया कि -
-76 प्रतिशत को बचपन में ही या किशोर उम्र में यौन शोषण का शिकार होना पड़ा था।
-यह कुकर्म करने वालों में 42 प्रतिशत अंकल या कज़न थे। और 4 प्रतिशत पिता या भाई थे।

– नमिता

चार्टिस्टों का गीत

● टॉमस कूपर (चार्टिस्ट आन्दोलन के एक नेता)

एक समय वो आयेगा जब नहीं रहेगी बुराई,
नहीं झुकेगा सामन्त के आगे, जिसने खेतों में जाँगर खटाई;
मुट्टीभर मालिकों का चलेगा न फ़रमान,
नहीं सुनेंगे उनके हुक़्म, जो हैं बहुसंख्यक इन्सान।
मत ठहरो, मत रुको मेरे भाई, जब तक पूरा काम न हो
संघर्ष जारी है तब तक, जब तक चार्टर की जीत न हो!

एक समय वो आयेगा जब कारीगर का होगा मान
जब मेहनतकश नहीं करेगा अभिजातों का सम्मान;
खटते हैं खदानों के भीतर जो खनिक मज़दूर
धन-कुबेर के आदेश पर नहीं रहेंगे मजबूर।
मत ठहरो, मत रुको मेरे भाई, जब तक पूरा काम न हो
संघर्ष जारी है तब तक, जब तक चार्टर की जीत न हो!

एक समय वो आयेगा जब बुनकरों के परिवार
अपने देश में नहीं सोयेंगे भूखे एक भी बार;
जब हर मज़दूर का बच्चा मीठी नींद सो सकेगा रातभर
जब उसके चेहरे पर होगी मुस्कान, सपने में खेल देखकर।
मत ठहरो, मत रुको मेरे भाई, जब तक पूरा काम न हो
संघर्ष जारी है तब तक, जब तक चार्टर की जीत न हो!

एक समय वो आयेगा जब तुच्छ सोने से बढ़कर
होगा इन्सान से इन्सान का भाईचारा;
जब हब्शी के आज़ाद ख़यालों पर न होगा कोई बन्धन
मानवजाति से अलग न होगा उसका सम्बन्ध।
मत ठहरो, मत रुको मेरे भाई, जब तक हम आज़ाद न हों,
जब तक न्याय का गीत न हो, जब तक प्रेम का साज़ न हो।

एक समय वो आयेगा जब पादरियों की टोपी औ' राजाओं के ताज
खिलौनों के मानिन्द सजेंगे संग्रहालयों में, ज्यों हों दूर अतीत की बात;
जब कहीं न होगा बर्बरता औ' झूठ का नामोनिशान,
और करुणा व सच ही होंगे इन्सानों की पहचान।
मत ठहरो, मत रुको मेरे भाई, जब तक हम आज़ाद न हों,
जब तक करुणा की जीत न हो, जब तक सच सरताज न हो!

एक समय वो आयेगा जब धरती पर
होगा आनन्द और उल्लास चहुँओर,
जब हत्यारी तलवारें ज़ंग खायेंगी म्यानों में,
जब भलाई के गीत गूँजेंगे, फ़ैक्ट्री में, खलिहानों में।
मत ठहरो, मत रुको मेरे भाई, जब तक हम आज़ाद न हों,
और जब तक दुनिया में हर ओर भलाई का राज न हो!

अनुवाद: सन्दीप संवाद

मज़दूर वर्ग और समाजवाद को समर्पित एक सच्चा बुद्धिजीवी

(पेज 14 से आगे)

दौरान इस बुलेटिन का प्रकाशन लगातार जारी रहा। ब्रिटेन, अमेरिका और पूरे यूरोप के वाम बुद्धिजीवियों और कम्युनिस्ट कतारों को चीन की सांस्कृतिक क्रान्ति और समाजवादी पुनर्निर्माण की प्रक्रिया से अवगत कराने में 'चाइना पॉलिसी स्टडी ग्रुप' और 'ब्रॉडशीट' ने विशेष भूमिका निभायी। इसी उद्देश्य से जॉर्ज थॉमसन की तीन पुस्तकों का भी प्रकाशन किया गया – 'मार्क्स से माओ तक: क्रान्तिकारी द्वन्द्ववाद में एक अध्ययन', 'पूँजीवाद और उसके उपरान्त: माल उत्पादन का उदय और अस्त', और 'मानवीय सारतत्व: विज्ञान और कला के स्रोत'।

माओ त्से-तुङ की मृत्यु के बाद चीन में देङपंथी संशोधनवादी अपने षड्यन्त्र में कामयाब हुए और सत्ता पर काबिज़ होते ही पूँजीवादी पुनर्स्थापना की शुरुआत की। इस पूरे दौर में जॉर्ज थॉमसन देङ सियाओ-पिङ के 'बाज़ार समाजवाद' की असलियत को बेनक़ाब करते रहे और उन्होंने माओवाद तथा सर्वहारा सांस्कृतिक क्रान्ति की शिक्षाओं का परचम ऊँचा उठाये रखा। एक सच्चे कम्युनिस्ट योद्धा की तरह जॉर्ज थॉमसन अपनी आख़िरी साँस तक वर्ग युद्ध के मोर्चे पर डटे रहे। एक सच्चा क्रान्तिकारी बुद्धिजीवी कैसा होना चाहिए, जॉर्ज थॉमसन इसकी मिसाल ताउम्र पेश करते रहे। वे सच्चे मायनों में जनता के आदमी थे। बौद्धिक प्रतिभा के इतने धनी होते हुए भी उन्होंने अपने जीवन का अधिकांश भाग मज़दूर वर्ग के क्रान्तिकारी संघर्षों को समर्पित कर दिया। उनके हर संघर्ष में उनकी पत्नी एक सच्चे जीवन साथी की तरह उनके साथ क़दम-से-क़दम मिलाकर चलती रहीं। 1987 में 84 वर्ष की उम्र में जॉर्ज थॉमसन ने दुनिया को अलविदा कहा। ऐसे सच्चे क्रान्तिकारी को हमारा क्रान्तिकारी सलाम!

● शिवानी

उत्तर प्रदेश, उत्तराखण्ड, पंजाब, मणिपुर और गोवा में विधानसभा चुनाव

जनता के पास चुनने के लिए कुछ भी नहीं है! सिवाय इंक़लाब के!

उत्तर प्रदेश, उत्तराखण्ड, पंजाब, मणिपुर और गोवा में विधानसभा चुनाव हो रहे हैं। एक बार फिर सभी चुनावी मेंढकों ने अपने-अपने बिलों से निकलकर टर्राना शुरू कर दिया है। इस टर्राहट के शोर में गाहे-बगाहे विकास, ग़रीबी और बेरोज़गारी के मुद्दे भी सुनायी पड़ जाते हैं। लेकिन सभी जानते हैं कि तमाम चुनावी पार्टियों को किसी चुनाव में ग़रीबी, बेरोज़गारी, महँगाई आदि जैसे मुद्दों की याद आती भी है, तो उसका कारण यह होता है कि वोटर जाति, धर्म, आदि की राजनीति से बुरी तरह ऊबे हुए होते हैं। जब तक साम्प्रदायिकता और जातिवाद की कढ़ाही फिर से गर्म नहीं होती तब तक ये चुनावी पार्टियाँ विकास, रोज़गार, महँगाई आदि के बारे में कुछ जुबानी जमा ख़र्च कर लेती हैं। इस बार भी सारे के सारे चुनावी मदारी जाति और धर्म की अँगीठी पर रोटी सेंककर, साम-दाम-दण्ड-भेद अपनाकर किसी भी तरह से वोट बटोर कर सत्ता में आने में इस क़दर मगन हैं, कि उनके सामने न तो रोज़गार मुद्दा है, न ग़रीबी, न भुखमरी, न मज़दूरों के हालात। वर्तमान विधानसभा चुनाव एक बार फिर सड़ाँध मारती पूँजीवादी राजनीति को हमारे सामने बेपर्द कर रहे हैं। इन चुनावों में आम मेहनतकश जनता कहीं भी नहीं है। उसका मोल सिर्फ़ उसके वोट के लिए है। जाति, धर्म, आरक्षण, मन्दिर, क्षेत्रवाद आदि जैसे मुद्दों से उसे भरमाकर वोट बटोरने की होड़ में कोई किसी से पीछे नहीं है।

कांग्रेस, सपा और बसपा उत्तर प्रदेश में मुसलमान वोटों को समेटने की अन्धी प्रतिस्पर्द्धा में लगी हुई हैं। कांग्रेस ने पहले दावा किया कि वह 27 प्रतिशत पिछड़ी जाति के आरक्षण में से 4.5 प्रतिशत मुसलमानों को दे देगी। जब इतना काफ़ी नहीं लगा तो कांग्रेस के सलमान खुर्शीद ने वायदा किया कि 4.5 प्रतिशत की बजाय मुसलमानों को 9 प्रतिशत का आरक्षण दिया जायेगा। समाजवादी पार्टी मुसलमान वोटरों को याद दिला रही है कि बाबरी मस्जिद के ध्वंस में जितना हाथ भाजपा का था, उतना ही हाथ कांग्रेस की केन्द्र सरकार की निष्क्रियता का भी था। राहुल गाँधी दौरे पर दौरे मारे जा रहे हैं तो सपा के अखिलेश यादव ने भी यात्राओं का ताँता लगा दिया है। कांग्रेस मुसलमानों, पिछड़ी जातियों और ब्राह्मणों के वोटों का समीकरण बनाने के चक्कर में है, तो सपा यादवों, कुछ अन्य पिछड़ी जातियों और मुसलमानों का फ़ार्मूला पका रही है। वहीं भाजपा अपने पुराने सवर्ण वोट बैंक को ही सेंध लगने से बचाने में दुबली हुई जा रही है। मायावती अपनी सरकार के दाग़ी मन्त्रियों को हटाने, हड़काने, धमकाने आदि की कवायद से साफ़-सुथरी छवि बनाने में लगी हुई हैं। बसपा अपने दलित वोट बैंक पर सबसे ज़्यादा ज़ोर दे रही है और इस बार उसका निशाना पश्चिमी उत्तर प्रदेश की जाटव दलित आबादी पर है, जो आबादी का क़रीब 18 प्रतिशत है। उसे लग गया है कि पिछले चुनावों में उसके साथ आया ब्राह्मण वोट बैंक उसके पास से खिसक रहा है। बड़े मदारियों के अलावा पीस पार्टी आदि जैसे कुछ छोटे मदारी भी एक-दो सीट पाकर अपने मोलभाव की ताक़त बढ़ाने और कमाई करने की आस लगाये बैठे हैं। भ्रष्टाचारी नेता और गुण्डों के एक दल से दूसरे दल और दूसरे से तीसरे दल में प्रवास की रफ़्तार आश्चर्यजनक रूप से बढ़ गयी है। बसपा से कुशवाहा को भ्रष्टाचार के आरोप में निकाला गया तो भाजपा ने उसके लिये दरवाज़े खोल दिये; डी.पी. यादव को सपा ने वापस लेने से इंकार कर दिया तो वह किसी अन्य दरवाज़े की तलाश में घूम रहा है; तमाम बाहुबली नेताओं की ख़रीद-फ़रोख़्त बड़े पैमाने पर शुरू हो गयी है। आये दिन उत्तर प्रदेश के कभी किसी तो कभी किसी इलाक़े में नोटों और महँगी विदेशी शराबों से भरी गाड़ियाँ पकड़ी जा रही हैं, जो तोहफ़ों के तौर पर एक जगह से दूसरी जगह भेजी जा रही थीं।

इस पूरे महाप्रपंच में आम मेहनतकश जनता कहाँ है? उत्तर प्रदेश के करोड़ों मज़दूर और भूमिहीन कहाँ हैं? लाखों-लाख उजड़ते ग़रीब किसान कहाँ हैं? ग़रीब दलित आबादी कहाँ हैं? मेहनतकश मुसलमान आबादी कहाँ है? जवाब सीधा है: कहीं नहीं! सारे के सारे चुनावी दलों का लक्ष्य है पाँच साल तक सत्ता में रहकर, पूँजीपतियों, ठेकेदारों, दलालों, धनी किसानों, कुलकों-फार्मरों, कारपोरेट घरानों की सेवा करना और बदले में अपनी सेवा की फ़ीस वसूलना। यही हाल पंजाब, उत्तराखण्ड, आदि प्रान्तों के विधानसभा चुनावों का भी है। सभी चुनावी पार्टियों की आर्थिक नीतियों से लेकर चाल-चेहरा-चरित्र तक, सबकुछ इस क़दर मिलता-जुलता है कि कई बार इनके नेताओं में फ़र्क़ कर पाना मुश्किल हो जाता है। इनमें फ़र्क़ सिर्फ़ इस आधार पर किया जा सकता है कि कौन किसे लुभाने में लगा है। इनके पास समाज की मेहनतकश आबादी के लिए इसके अलावा और कुछ भी नहीं है। चुनावों की पूरी प्रक्रिया को देखते ही साफ़ हो जाता है कि इसमें हम मेहनतकशों के पास चुनने के लिए कुछ भी नहीं है। विकल्पहीनता की स्थिति में आम ग़रीब आबादी का भी एक हिस्सा कभी कमल, पंजे, हाथी, या साइकिल पर मुहर लगा आता है। उसे पता है कि कोई भी चुनावी पार्टी उसके लिए कुछ भी नहीं करने वाली है। लेकिन कोई विकल्प न होने पर वह जाति, धर्म, क्षेत्र आदि के आधार पर वोट डाल आता है। कुछ वोट गाँव में चलने वाले गुटवाद के आधार पर भी पड़ जाते हैं। इन सबके बावजूद 40 से 50 फ़ीसदी वोटर वोट डालने नहीं जाते। इसलिए नहीं कि वे अपढ़ या अज्ञानी हैं। वे जानते हैं कि किसी को वोट डालने से कोई लाभ नहीं है। लिहाज़ा, वोट डालने में उनकी कोई दिलचस्पी नहीं रह गयी है। जो वोट पड़ते भी हैं उनका बड़ा हिस्सा ख़रीद-फ़रोख़्त, बूथ कब्ज़ाने, जातिवाद, गुटपरस्ती, साम्प्रदायिकता आदि के आधार पर पड़ जाता है। यह सब कुछ यही साबित करता है कि जनता के बड़े हिस्से का पूँजीवादी व्यवस्था पर से भरोसा उठ चुका है। जीतने वाली पार्टी को आम तौर पर कुल गिरे वोटों में से मुश्किल से 20-22 फ़ीसदी वोट मिलते हैं। साधारण गणित जानने वाला व्यक्ति भी देख सकता है जातिवाद, साम्प्रदायिकता, भ्रष्टाचार, ख़रीद-फ़रोख़्त, बूथ कब्ज़ा आदि के दन्द-फन्द अपनाने के बाद भी जीतने वाली पार्टी कुल आबादी के मुश्किल से 10-12 फ़ीसदी की नुमाइन्दगी का दावा कर सकती है। यही है पूँजीवादी लोकतन्त्र! इसमें 'लोक' कहीं नहीं है, बस तन्त्र-मन्त्र ही है!

लेकिन जब तक पूँजीवादी व्यवस्था का कोई विकल्प पेश नहीं किया जाता तब तक हर चुनाव की नौटंकी में जनता का एक हिस्सा कभी इस तो कभी उस चुनावी मदारी के निशान पर ठप्पा लगाता रहेगा। जनता बिना किसी विकल्प के भी स्वत:स्फूर्त तरीक़े से सड़कों पर उतरती है। लेकिन ऐसे जनउभार किसी व्यवस्थागत परिवर्तन तक नहीं जा सकते हैं। वे ज़्यादा से ज़्यादा कुछ समय के लिए पूँजीवादी शासन-व्यवस्था को हिला सकते हैं। लेकिन ऐसी उथल-पुथल से पूँजीवादी व्यवस्था देर-सबेर उबर जाती है। पूँजीवादी व्यवस्था पूरी दुनिया में कई वर्षों से आर्थिक संकट में है और अब यह आर्थिक संकट अपने आपको राजनीतिक संकट के रूप में भी अभिव्यक्त कर रहा है। लेकिन हर जगह संकट विकल्प का है। जिस मज़दूर वर्ग और उसकी हिरावल पार्टी को पूँजीवाद का विकल्प पेश करना है, वह हर जगह बिखरा हुआ है, विचारधारात्मक और राजनीतिक रूप से कमज़ोर है।

भारत में भी यही स्थिति बनी हुई है। आज मज़दूर वर्ग को एक नयी शुरुआत की ज़रूरत है। उसे मार्क्सवाद के विज्ञान से लैस होकर अपनी नयी इन्क़लाबी पार्टी बनाने की ज़रूरत है; अपनी क्रान्तिकारी पार्टी के जरिये ही मज़दूर वर्ग संगठित रूप से अपनी राजनीति को केन्द्र में स्थापित कर सकता है, और इन्क़लाब के रास्ते समाजवाद और मज़दूर सत्ता की स्थापना कर सकता है। पूँजीवाद का केवल यही एक विकल्प है। मौजूदा चुनाव एक बार फिर हमें इन सवालों पर सोचने के लिए मजबूर कर रहे हैं कि आख़िर कब तक हम इस ख़र्चीली नौटंकी के तमाशबीन बने रहेंगे? आख़िर कब तक हम अपनी ही ज़िन्दगी को तबाहो-बर्बाद होते देखते रहेंगे? एक पल भी गँवाए बिना हमें एक क्रान्तिकारी विकल्प खड़ा करने की तैयारियों में जुट जाना चाहिए!

मज़दूरों के नाम भगतसिंह का पैग़ाम!

इतिहास की ओर से जान-बूझकर क्यों आँखें बन्द रखी जाती हैं? आज फ़्रांस के सामन्ती जागीरदार और रूसी अभिजात कहाँ हैं? क्या इन लोगों ने इन विचारों को दबाने के लिए अपना-अपना ज़ोर नहीं लगाया और क्या क्रान्ति रुक सकी थी? फिर यहीं क्रान्ति कैसे रुक सकेगी? जब तक भूख है और श्रम करने वाले भूखे मरते रहेंगे और निठल्ले बैठने वाले हर तरह की मौज उड़ाते रहेंगे, तब तक समाजवादी विचार दबाने से और भी ज़ोर पकड़ते रहेंगे। लेकिन श्रमिकों को सँभल जाना चाहिए और समझ लेना चाहिए कि उनके आन्दोलन को दबाने के लिए कितने अत्याचार किये जा रहे हैं और यदि वे अब भी न सँभले तो बाद में पछताने से कुछ हाथ न आयेगा।

– 'श्रमिक आन्दोलन को दबाने की चालें' शीर्षक लेख से

●

समाज का प्रमुख अंग होते हुए भी आज मज़दूरों को उनके प्राथमिक अधिकार से वंचित रखा जा रहा है और उनकी गाढ़ी कमाई का सारा धन शोषक पूँजीपति हड़प जाते हैं। दूसरों के अन्नदाता किसान आज अपने परिवार सहित दाने-दाने के लिए मुहताज हैं। दुनियाभर के बाज़ारों को कपड़ा मुहैया करने वाला बुनकर अपने तथा अपने बच्चों के तन ढँकनेभर को भी कपड़ा नहीं पा रहा है। सुन्दर महलों का निर्माण करने वाले राजगीर, लोहार तथा बढ़ई स्वयं गन्दे बाड़ों में रहकर ही अपनी जीवन-लीला समाप्त कर जाते हैं। इसके विपरीत समाज के जोंक शोषक पूँजीपति ज़रा-ज़रा-सी बातों के लिए लाखों का वारा-न्यारा कर देते हैं।

यह भयानक असमानता और ज़बरदस्ती लादा गया भेदभाव दुनिया को एक बहुत बड़ी उथल-पुथल की ओर लिये जा रहा है। यह स्थिति अधिक दिनों तक क़ायम नहीं रह सकती। स्पष्ट है कि आज का धनिक समाज एक भयानक ज्वालामुखी के मुख पर बैठकर रंगरेलियाँ मना रहा है और शोषकों के मासूम बच्चे तथा करोड़ों शोषित लोग एक भयानक खड्ड की कगार पर चल रहे हैं।

सभ्यता का यह प्रासाद यदि समय रहते सँभाला न गया तो शीघ्र ही चरमराकर बैठ जायेगा। देश को एक आमूल परिवर्तन की आवश्यकता है। और जो लोग इस बात को महसूस करते हैं उनका कर्त्तव्य है कि साम्यवादी सिद्धान्तों पर समाज का पुनर्निर्माण करें। ...क्रान्ति से हमारा मतलब अन्ततोगत्वा एक ऐसी समाज-व्यवस्था की स्थापना से है जो इस प्रकार के संकटों से बरी होगी और जिसमें सर्वहारा वर्ग का आधिपत्य सर्वमान्य होगा। और जिसके फलस्वरूप स्थापित होने वाला विश्व-संघ पीड़ित मानवता को पूँजीवाद के बन्धनों से और साम्राज्यवादी युद्ध की तबाही से छुटकारा दिलाने में समर्थ हो सकेगा।

...क्रान्ति मानवजाति का जन्मजात अधिकार है जिसका अपहरण नहीं किया जा सकता। स्वतन्त्रता प्रत्येक मनुष्य का जन्मसिद्ध अधिकार है। श्रमिक वर्ग ही समाज का वास्तविक पोषक है, जनता की सर्वोपरि सत्ता की स्थापना श्रमिक वर्ग का अन्तिम लक्ष्य है। इन आदर्शों के लिए और इस विश्वास के लिए हमें जो भी दण्ड दिया जायेगा, हम उसका सहर्ष स्वागत करेंगे। क्रान्ति की इस पूजा-वेदी पर हम अपना यौवन नैवेद्य के रूप में लाये हैं, क्योंकि ऐसे महान आदर्श के लिए बड़े से बड़ा त्याग भी कम है। हम सन्तुष्ट हैं और क्रान्ति के आगमन की उत्सुकतापूर्वक प्रतीक्षा कर रहे हैं।

इन्क़लाब ज़िन्दाबाद!

– बमकाण्ड पर सेशन कोर्ट में बयान से

●

नौजवानों को क्रान्ति का यह सन्देश देश के कोने-कोने में पहुँचाना है, फ़ैक्टरी-कारख़ानों के क्षेत्रों में, गन्दी बस्तियों और गाँवों की जर्जर झोंपड़ियों में रहने वाले करोड़ों लोगों में इस क्रान्ति की अलख जगानी है जिससे आज़ादी आयेगी और तब एक मनुष्य द्वारा दूसरे मनुष्य का शोषण असम्भव हो जायेगा।

– विद्यार्थियों के नाम पत्र से

मुद्रक, प्रकाशक और स्वामी कात्यायनी सिन्हा द्वारा 69 ए-1, बाबा का पुरवा, निशातगंज, लखनऊ-226006 से प्रकाशित एवं उन्हीं के द्वारा मल्टीमीडियम, 310, संजय गांधीपुरम, फ़ैज़ाबाद रोड, लखनऊ से मुद्रित। सम्पादक : सुखविन्दर, अभिनव ● सम्पादकीय पता : 69 ए-1, बाबा का पुरवा, पेपरमिल रोड, निशातगंज, लखनऊ-226006